वेदविद्या - प्रवेशिका

डॉ दयानन्द भार्गव
आचार्य्य एवम् अध्यक्ष
सस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर

सम्पादक
श्रीकर्पूरचन्द्र कुलिश

वेद-स्वाध्याय-मण्डल
जोधपुर

एक मात्र वितरक
राजस्थानी ग्रन्थागार
प्रकाशक एव पुस्तक विक्रेता
सोजती गेट के बाहर
जोधपुर

प्रथम सस्करण २९ नवम्बर, १९९४

टाइपिंग एण्ड टाइपसेटिंग
सूर्या कम्प्यूटर्स, जोधपुर

मुद्रक
अनमोल प्रिन्टर्स, जोधपुर

विषयसूचि

प्रकाशकीय		क-ख
भूमिका		ग-घ
प्रथम खण्ड		
हम		
प्रथम पाठ	हमारा शरीर	१
द्वितीय पाठ	हमारे प्राण	८
तृतीय पाठ	हमारा मन	१२
चतुर्थ पाठ	हमारा स्वरूप	१६
द्वितीय खण्ड		
हमारी सस्थाये		
पञ्चम पाठ	सभ्यता और सस्कृति	२०
षष्ठ पाठ	चार पुरुषार्थ	२४
सप्तम पाठ	वर्णाश्रम-व्यवस्था	२९
अष्टम पाठ	हमारा पर्यावरण	३४
नवम पाठ	ज्योतिपर्व दीपावली	४२
तृतीय खण्ड		
हमारा विश्व		
दशम पाठ	त्रयी विद्या	४८
एकादश पाठ	त्रिविध पुरुष	५३
द्वादश पाठ	यज्ञ	५७
त्रयोदश पाठ	ब्रह्माण्ड का उद्भव	६२
चतुर्दश पाठ	सृष्टि की आयु तथा चतुर्युग	६६

चतुर्थ खण्ड

चतुर्वेद-पाठ

पञ्चदश पाठ	ऋग्वेद (१० ९०) पुरुष सूक्त	७३
षोडश पाठ	यजुर्वेद चत्वारिंश अध्याय मन्त्र—१	८०
सप्तदश पाठ	यजुर्वेद चत्वारिंश अध्याय मन्त्र—२-३	८४
अष्टादश पाठ	यजुर्वेद चत्वारिंश अध्याय मन्त्र—४	८९
एकोनविंश पाठ	यजुर्वेद चत्वारिंश अध्याय मन्त्र—५ से अन्त तक	९५
विंश पाठ	सामवेद (आरण्य गान ८९) सेतुसाम	१०२
एकविंश पाठ	अथर्ववेद (१९ ६ ५३) कालसूक्त	१०८

ओ३म्

प्रकाशकीय

सूर्यनगरी जोधपुर के लिये वह दिन अत्यन्त सौभाग्य का था जिस दिन महाराष्ट्र स्थित सङ्गमनेर के महर्षि वेदव्यास प्रतिष्ठान के सञ्चालक परमश्रद्धेय श्री किशोरजी व्यास ने हमारी यह प्रार्थना स्वीकार की कि १९९४ में होने वाला चतुर्थ वार्षिक वेद स्वाध्याय शिविर जोधपुर में आयोजित हो। इस शिविर के माध्यम से हम जोधपुरवासियों को पवित्र वेदवाणी सुनने का तथा वेदपाठी श्रोत्रियों की सेवा का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है।

इस शिविर के उद्देश्य में एक सुनियोजित कार्यक्रम द्वारा वेदविद्या को बढावा देना है। किसी भी विद्या का बढावा देने का सर्वोत्तम उपाय उस विद्या सम्बन्धी साहित्य को प्रकाशित करना है। इसलिये उपर्युक्त शिविर की आयोजन समिति के उपाध्यक्ष डा दयानन्द भार्गव ने जब शिविर के अवसर पर वेद विद्या की एक प्रवेशिका लिखने का प्रस्ताव रखा तो हमने उसे न केवल सहर्ष स्वीकार किया अपितु यह निर्णय भी ले लिया कि शिविर के पुण्य अवसर पर गठित वेद स्वाध्याय मण्डल जोधपुर के प्रथम पुष्प के रूप में इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार भी अपने ऊपर ले लें।

डॉ भार्गव ने अत्यन्त अल्प समय में यह ग्रन्थ तैयार कर दिया। श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश ने जिन्होंने पिछले एक दशक से वेदविद्या के प्रचार प्रसार के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया है इस ग्रन्थ का सम्पादन भी अत्यन्त अल्प समय में ही निष्पन्न कर दिया। जोधपुर में ही कम्प्यूटर द्वारा मुद्रण की व्यवस्था उपलब्ध हो जाने से यह ग्रन्थ इतने थोड़े से समय में ही प्रकाशित होकर पाठकों के कर कमलों तक पहुँच सका—इसका हमें अत्यन्त हर्ष है। प्रकाशन के स्तर पर डॉ दयानन्द भार्गव के सहकर्मी डॉ श्रीकृष्ण शर्मा डॉ सत्यप्रकाश दुबे तथा श्री मगलाराम द्वारा प्रूफ देखने में दिये गये सहयोग के लिये हम उन सबके आभारी हैं। डॉ सरोज कौशल ने ग्रन्थ की विषयानुक्रमणी तैयार को एतदर्थ वे भी धन्यवाद की पात्र है। ग्रन्थ के एकमात्र वितरक के रूप में राजस्थानी ग्रन्थागार के श्री राजेन्द्र सिंघवी तथा कम्प्यूटर द्वारा ग्रन्थ को मुद्रित रूप देने वाले श्री सूर्यप्रकाश भार्गव भी धन्यवाद के पात्र हैं।

सुधी पाठक इस ग्रन्थ के अध्ययन करने पर इसकी कुछ विशेषताओं को स्वय ही पहचान लेंगे। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में दिया गया शरीर प्राण मन तथा मानव की विशेषताओं का विवरण वेदविद्या के अध्यात्म पक्ष को उजागर करता है। द्वितीय खण्ड में सभ्यता सस्कृति पुरुषार्थचतुष्टय, वर्णाश्रम व्यवस्था पर्यावरण तथा दीपावली पर दिये गये पाठ भारतीय समाज की वेदमूलकता सिद्ध करते हैं। तृतीय खण्ड में सृष्टिविद्या का विवरण त्रयीविद्या, त्रिविधपुरुष यज्ञ आदि पर लिखे गये पाठों द्वारा प्रतिपादित है। चतुर्थ खण्ड में चारों वेदों से एक एक सूक्त की विस्तृत व्याख्या दी गयी है। इस प्रकार लघुकलेवर होने पर भी यह ग्रन्थ प्राय वेदविद्या के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को स्पर्श करता है। वेद में रुचि रखने वाले आबालवृद्ध सभी पाठकों के लिये यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसी आशा है।

नाम भी "वेदविद्या प्रवेशिका" रखा गया है। इस ग्रन्थ के लिखने समय तीन बातें ध्यान में रखी गई हैं

१ यह ग्रन्थ माध्यमिक कक्षाओं में भारतीय संस्कृति तथा नैतिक शिक्षा के पाठय ग्रन्थ के रूप में उपयोगी सिद्ध हो सके।

२ वे प्रौढ अध्येता जो वैदिक अध्ययन में रुचि रखते हैं किन्तु जिन्हें छात्रावस्था में वेदाध्ययन का अवसर नहीं मिला वे भी इस ग्रन्थ के माध्यम से वेद के स्वाध्याय में प्रवेश पा सकें। इसी ग्रन्थ में स्थान स्थान पर बच्चों को सम्बोधित किया गया है किन्तु इस कारण प्रौढ लोगों को इस ग्रन्थ को पढते समय यह नहीं सोचना चाहिये कि यह ग्रन्थ उनके लिये नहीं है। वस्तुत शास्त्रीय परिभाषा में 'बाल' शब्द का अर्थ वह व्यक्ति है जिसने प्रस्तुत शास्त्र न पढा हो भले ही वह अन्य शास्त्रों का प्रौढ विद्वान् ही क्यों न हो। इस शास्त्रीय अर्थ में 'बाल' शब्द का अवस्था से कोई सम्बन्ध नही है।

३ इस देश में परम्परागत पद्धति से भी वेदपाठ सीखने वाले ब्रह्मचारियों की सख्या कम नही है। ये ब्रह्मचारी प्राय एक न एक वेद को सस्वर कण्ठस्थ कर लेते हैं किन्तु अधिकतर वे वेद के अर्थ से अनभिज्ञ रह जाते हैं। ऐसे विद्यार्थी इस ग्रन्थ के माध्यम से वेद का अर्थ जानने के लिये भी उत्सुक होंगे ऐसी आशा की जाती है। वस्तुत इस ग्रन्थ के प्रकाशन में ऐसे ही बटुकों का एक सम्मेलन निमित्त बन रहा है। यह सम्मेलन सगमनेर के श्री किशोर व्यास द्वारा सचालित महर्षि वेदव्यास प्रतिष्ठान के तत्वावधान में २९ नवम्बर से २ दिसम्बर १९९४ तक जोधपुर में हो रहा है। इसका उद्घाटन स्वय श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश कर रहे हैं। इसमें लगभग २०० वेदपाठी बालक भाग लेंगे। प्रस्तुत पुस्तक उनके लिये उपयोगी हो इस उद्देश्य से इस सम्मेलन की आयोजन समिति ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन करना स्वीकार किया।

श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश राजस्थान में वेदविद्या के पुनर्जागरण के अग्रदूत का काम कर रहे हैं। उन्होंने अनेकानेक विद्वानों को इस कार्य में नियोजित किया है। लेखक को भी उन्होंने ही वेद स्वाध्याय की प्रेरणा दी। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है किन्तु उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन का रहा है। वेद विद्या में उनकी गति और उनकी सम्पादन कुशलता—ये दो बिन्दु ऐसे थे जिनसे मुझे ऐसा लगा कि यदि इस ग्रन्थ का सम्पादन भार वे अपने ऊपर ले लें तो यह मेरा सौभाग्य होगा। मैंने प्रार्थना की और उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार कर ली। मैं उनका आभारी हूँ।

परम्परागत पद्धति से अथवा आधुनिक पद्धति से जहाँ भी वेद का अध्ययन हो रहा है यदि इस ग्रन्थ का उपयोग किया जाता है और ग्रन्थ के सुधार के लिये सुझाव दिये जाते हैं तो निश्चित ही ग्रन्थ की त्रुटिया सुधारने में बहुत सहायता मिलेगी। यदि ग्रन्थ का कोई उपयोग हुआ तो भविष्य में इस लघुप्रवेशिका का एक बृहत् सस्करण भी प्रकाशित किया जा सकता है।

जोधपुर
दीपावली विक्रम सम्वत् २०५१

दयानन्द भार्गव

प्रथम पाठ

हमारा शरीर

बच्चों । तुमने वेद का नाम जरूर सुना होगा । शायद तुम्हें यह भी पता ही हो कि वेद चार हैं ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद । सम्भव है तुम सोचते हो कि वेद में बहुत ऊँची ऊँची बातें कही गई हैं इसलिए हम वेद को नहीं समझ सकेंगे । तुम्हारा यह विचार एक सीमा तक ठीक है । वेद के अर्थ को जानना आसान नही है लेकिन इसके साथ ही यह बात भी सच है कि वेद का अध्ययन करने की विधि बतलाते समय मनु ने पाच साल से बारह साल तक की उम्र वाले बच्चों के लिये वेद पढना शुरू करने का नियम बनाया है । तुम में से किसी की भी उम्र पाँच साल से तो कम होगी नही इसलिए मनु के अनुसार तुम वेद पढना प्रारम्भ कर सकते हो । अपने को छोटा मानकर वेद पढने से डरने की जरूरत नहीं है ।

हमारे लिये सबसे अधिक परिचित हमारा शरीर है क्योंकि यह हमारे बहुत निकट है और जन्म से लेकर हमारे साथ लगा हुआ है । हमारा यह शरीर कैसे बना ? इसकी चर्चा वेद में बहुत अच्छे तरीके से की गई है । इतना तो तुम जानते ही हो कि हम प्रतिदिन कुछ न कुछ खाते पीते रहते हैं । जो कुछ भी हम खाते हैं उसी से हमारा शरीर बनता है । जो कुछ हम खाते हैं वेद में उसे अन्न कहा गया है । इस अन्न से हमारा शरीर कैसे बनता है ? अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद में इसे इस प्रकार समझाया गया है कि खाया गया अन्न सात भागों में बटता है और उसी से हमारा शरीर बनता है

१ अन्न का सबसे पहले रस बनता है । यह रस शरीर में रह जाता है और अन्न का जो भाग रस नही बन पाता वह शरीर से बाहर निकल जाता है । शरीर से बाहर निकल जाने वाले इस अश को ही हम मल कहते हैं । इस प्रकार रस अन्न का सार भाग है ।

२ इस रस का भी सार खून है ।

३ खून का सार मास है ।

४ मास का सार चर्बी है ।

५ चर्बी का सार हड्डी है ।

६ हड्डी का सार मज्जा है । मज्जा का अर्थ है वह रस जो मास और हड्डियों के बीच रहता है ।

७ मज्जा का सार शुक्र अथवा वीर्य है । इस वीर्य के कारण ही मनुष्य सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता प्राप्त करता है ।[१]

इस प्रकार इन सात भागों में अन्न से हमारे शरीर का निर्माण होता है । शरीर का सबसे स्थूल भाग रस है और सबसे सूक्ष्म भाग शुक्र है । हमारे शरीर में एक अग्नि है जिसे जठराग्नि या वैश्वानर अग्नि कहते हैं । हमारे शरीर में जाने वाले अन्न को यही अग्नि इस प्रकार मथती रहती है कि रस से लेकर वीर्य तक के सात अंश एक दूसरे के बाद बनते चले जाते हैं । यह अन्न से हमारे शरीर के निर्माण की प्रक्रिया है । यदि हम अपने शरीर को पुष्ट रखना चाहते हैं तो अन्न के अन्तिम अंश वीर्य की सावधानी से रक्षा करनी चाहिये ।

वेद को पढ़ने वाले बच्चे का नाम ब्रह्मचारी है । यदि तुम वेद पढ़ते हो तो तुम भी ब्रह्मचारी हो । ब्रह्मचारी को सादा और तपस्या का जीवन बिताना चाहिये ।[२] चटपटे भोजन करना तड़क भड़क वाली जिन्दगी बिताना ब्रह्मचारी के लिए ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी जिन्दगी वीर्य की सुरक्षा के लिये खतरा पैदा कर देती है । तुम इस बात का ध्यान रख सकते हो कि तेज मसालों वाले खाने मत खाओ भूख से थोड़ा कम खाओ सवेरे जल्दी उठो आलस्य मत करो सर्दी गर्मी से घबराओ नहीं ऋतु के अनुकूल सादा सूती या ऊनी वस्त्र पहनो शरीर पर खुली हवा और धूप लगने दो और सबसे बढ़कर अपने मन को हर समय पवित्र विचारों से भरे रखो । किसी प्रकार का गन्दा विचार कभी मत आने दो ।[३] ऐसी चीजों से बचकर रहो जिससे गन्दे विचार मन में आयें । इस सम्बन्ध में तुम्हारे गुरु और माता पिता तुम्हें जरूरी बातें बता सकते हैं । उनका पालन करना चाहिये ।

शरीर के सम्बन्ध में इतनी जरूरी जानकारी कर लेने के बाद हमें दो बातें और समझनी हैं— वीर्य शरीर का सबसे आवश्यक अंश है किन्तु अन्न से बनने वाला अन्तिम अंश वीर्य नहीं है । रस से लेकर वीर्य तक के सात अंशों का सम्बन्ध पृथ्वी से है । वे सब ठोस हैं उन्हें छुआ जा सकता है । लेकिन इसके बाद एक ऐसा अंश भी आता है जो अन्न से बनता है किन्तु उसे हम छू नहीं सकते । इस अंश को ओज कहते हैं । यह ओज वीर्य का भी सार है । तुमने महापुरुषों के चेहरे पर एक विशेष प्रकार की चमक देखी होगी । चित्रों में इस चमक को महापुरुषों के सिर के पीछे एक गोल आकार का तेजोमण्डल बनाकर प्रकट किया जाता है । यही चमक या तेज ओज कहलाता है जो वीर्य का भी सार है । जो व्यक्ति अपने वीर्य को जितना अधिक सुरक्षित रखेगा उसके चेहरे पर उतना ही अधिक तेज होगा । जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उन महात्माओं के चेहरे पर यह ओज बिल्कुल साफ दिखाई देता है । वेद के प्रत्येक विद्यार्थी के चेहरे पर यह ओज होना चाहिये क्योंकि ब्रह्मचर्य का पालन करना उसके लिये बहुत जरूरी है । यह बात ध्यान देने की है कि जिस तरह रस से लेकर वीर्य तक सातों अंशों को छुआ जा सकता है ओज या तेज को हाथ से छुआ नहीं जा सकता । इसलिए ओज को हम पृथ्वी का हिस्सा नहीं मानते हैं अन्तरिक्ष का हिस्सा मानते हैं । पृथ्वी का भाग घन कहलाता है अन्तरिक्ष का भाग तरल कहलाता है ।

यह ओज ही जब और सूक्ष्म बनता है तो मन कहलाता है अर्थात् जिस प्रकार वीर्य का सार ओज है इसी प्रकार ओज का सार मन है । इस बात से तुम समझ गये होगे कि जो अन्न हम खाते हैं वही सूक्ष्म होते होते अन्त में मन बनता है । शायद तुमने सुना हो "जैसा अन्न वैसा मन" । इस कहावत का यही मतलब है कि जैसा अन्न हम खाते हैं वैसा ही हमारा मन बन जाता है । साफ है कि हमें अपने भोजन पर ध्यान देना चाहिये । अन्न का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है यह तुम प्रत्यक्ष

अनुभव कर सकते हो । एक दिन तुम तला हुआ मसालेदार गरिष्ठ भोजन करो तो पता चलेगा कि सारे दिन शरीर भारी भारी बना रहता है सोने ही सोने को मन करता है । इसे हम इस भाषा में कहते हैं कि तामसी भोजन का तामसी प्रभाव पडता है । दूसरे दिन तुम हल्का बिना मिर्च मसालों का उबला हुआ भोजन या फल लो तो पता चलेगा कि शरीर हल्का रहता है और काम करने की विशेषकर बौद्धिक काम करने की क्षमता बढ जाती है । इसे हम सात्त्विक आहार का मन पर पडने वाला सात्त्विक प्रभाव कहेंगे ।

क्योंकि सारा मन अन्न से ही बना है इसलिए अन्न के सम्बन्ध में बहुत विवेक बरतना चाहिये । धर्मशास्त्रों में बहुत विस्तार से बतलाया गया है कि कैसा भोजन करना चाहिये । आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा भी भोजन के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है । धर्मशास्त्र और वैज्ञानिकों के आहार की चर्चा में यह बात उभर कर आती है कि भोजन सन्तुलित होना चाहिये और जबान के स्वाद के लिए भोजन नहीं करना चाहिये । सम्भव है विज्ञान की कुछ पुस्तकों में तुम्हें कई बार ऐसा लिखा मिले कि अण्डे मछली और मास के खाने से शरीर को लाभ होता है । धर्मशास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि जो मन को पवित्र रखना चाहे वह अण्डे मछली मास न खाये । तुम्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि अब आज के वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं कि मनुष्य के लिए शाकाहार भोजन ही सर्वोत्तम है । जिन देशों में हमेशा से मासाहार प्रचलित था वहा भी समझदार लोग शाकाहारी होते जा रहे हैं ।

एक दूसरी बात समझ लेने की यह है कि बेईमानी से कमाये गये पैसे से खरीदा गया अन्न हमारे लिए कभी भी लाभकारी सिद्ध नहीं हो सकता । मेहनत और ईमानदारी से कमाया गया पैसा ही हमें सच्चा सुख दे सकता है । निष्कर्ष यह है कि जो भी अन्न हम खायें उसके सम्बन्ध में मुख्यत तीन बातें अवश्य सोच लें

१ क्या वह अन्न ऐसा चटपटा तो नही है कि वह हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है किन्तु फिर भी जबान के स्वाद के कारण हम उसे खा रहे हैं ।

२ क्या हमारे भोजन में ऐसे तत्त्व तो नहीं है जो किसी को पीडा देकर प्राप्त किये गये हैं जैसे पशु को मारकर प्राप्त किया गया मास ।

३ क्या वह अन्न ऐसे धन से तो नहीं खरीदा गया है जो धन रिश्वत या कालाबाजारी जैसे अनुचित साधनों से प्राप्त किया गया हो ।[४]

क्योंकि अन्न का सम्बन्ध न केवल हमारे शरीर से है बल्कि हमारे मन से भी है इसलिए सक्षेप में यह जान लेना भी उचित होगा कि यह अन्न कैसे बनता है ?

अन्न के चार अश हैं

१ दधि पहला अश है । दधि का अभिप्राय है पकी हुई फसल । तुमने देखा होगा जब कोई अन्न का दाना कच्चा होता है तो उसे दबाने पर तरल दूध सा निकलता है । जब वह दाना पक जाता है तो कठोर हो जाता है इसे ही वैदिक परिभाषावलि में दधि कहा जाता है । यह ठोस

होता है । हमारे शरीर के मास हड्डी आदि ठोस अश इसी दधि भाग से बनते हैं । अन्न में यह दधि भाग पृथिवी से आता है क्योंकि पृथिवी भी ठोस है और अन्न का दधि भाग भी ठोस है ।

२ अन्न का दूसरा भाग घृत कहलाता है । घृत का अर्थ है चिकनापन । अन्न के दाने को पीसकर आटा बना लेने पर उसे जब गूथा जाता है तो अन्न का चिकनापन साफ देखा जा सकता है । इस बोलचाल की भाषा में लोच कहते हैं । इस लोच के कारण ही आटा गूँथ जाने पर एक पिण्ड का रूप ले लेता है । यदि यह लोच न हो तो आटा बिखरा ही रहे । पानी डालने पर भी रेगिस्तान की रेत पिण्ड नही बन पाती बिखरी ही रहती है क्योंकि इसमें चिकनापन नहीं है । अन्न में यह चिकनापन अन्तरिक्ष से आता है ।

३ अन्न का तीसरा अश मधु कहलाता है । सभी अन्नों में एक प्रकार का मिठास है । यदि तुम गेहू या बाजरे के आटे में कुछ भी न डालो और उसे बिना साग सब्जी लगाये खाओ तो अन्न के इस मिठास का अनुभव स्वय कर सकते हो । जैसे अन्न में दधि भाग पृथिवी से आता है घृत भाग अन्तरिक्ष से आता है, वैसे ही यह मधु भाग द्युलोक से आता है । तुम्हें गायत्री मन्त्र याद होगा । उसके प्रारम्भ में भूर्भुव स्व बोला जाता है । यही भूर्भुव स्व पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक है जिनसे अन्न में क्रमश दधि घृत और मधु आता है ।

४ अन्न का चौथा भाग अमृत है । यह अमृत भाग ही अन्न को स्वादिष्ट बनाता है । अन्न की स्वादुता के कारण हमारा मन भोजन करके तृप्त होता है । प्रश्न होता है कि अन्न में यह स्वादुता कहा से आती है । उत्तर यह है कि लोक तीन ही नहीं है एक चौथा लोक भी है जिसे आपोलोक कहा जाता है । इस आपोलोक के और भी दूसरे नाम है जैसे गोलोक परमेष्ठीलोक विष्णुलोक आदि । इसी चौथे लोक से अन्न में स्वाद उत्पन्न होता है । अन्न की इस स्वादुता को ही हम अमृत कहते हैं । इसे ही सोमरस भी कहा जाता है ।[५]

अन्न के इन चार भागों से यह बात तुम्हारे समझ में अच्छी तरह से आ गई होगी कि अन्न के बनाने में केवल पृथिवी ही अपना योगदान नही देती अन्तरिक्ष द्युलोक और विष्णुलोक भी अपना योगदान देते हैं । इस प्रकार जिस अन्न से हमारा शरीर और मन बनता है उस अन्न के निर्माण के लिये हम त्रिलोकी—अपितु चारों लोकों—के आभारी हैं । इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूरे विश्व से जो तत्व अन्न में आते हैं अन्न के माध्यम से वे ही तत्त्व हमारे शरीर में जाकर न केवल हमारे शरीर का बल्कि मन का भी निर्माण करते हैं । इस प्रकार अन्न की डोरी से मानों हम पूरे विश्व से जुडे हुए हैं और पूरा विश्व हमसे जुडा हुआ है । जैसे जैसे तुम वेद पढोगे विश्व के साथ तुम्हारे सम्बन्ध की यह घनिष्ठता और भी अधिक स्पष्ट होती जायेगी और जैसे जैसे तुम्हें यह पता चलेगा कि तुम पूरे विश्व से जुडे हुए हो तुम सारे विश्व को उसी प्रकार साफ सुथरा रखना चाहोगे जिस प्रकार अपने घर को साफ सुथरा रखना चाहते हो । जो लोग वेद न पढने के कारण विश्व के साथ अपनी घनिष्ठता को नहीं समझ पाते वे तरह तरह के कूडा करकट फैलाकर जमीन हवा और पानी को गन्दा कर रहे हैं, जिससे हम सबके लिए खतरा पैदा हो गया है कि कहीं हवा पानी और जमीन में इतना ज्यादा जहर न फैल जाये कि हमारा जिन्दा रहना ही मुश्किल हो जाये ।

ऊपर बताई गई अन्न के निर्माण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि पूरी प्रकृति हमारे प्रति कितनी दयालु है । पृथिवी अन्न के ठोस भाग को बनाती है अन्तरिक्ष उसमें चिकनाहट पैदा करता है,द्युलोक मधुरता भरता है और चतुर्थ परमेष्ठी लोक उसमें स्वादुता उत्पन्न करता है तब कही वह अन्न हमारे शरीर और मन के लिए अनुकूल बनता है । ऐसी दयालु प्रकृति के प्रति हमें क्रूरता नही बरतनी चाहिये क्योंकि वह प्रकृति हमारी माता के समान है । वन के वृक्षों को लोभवश अन्धाधुन्ध काटना नदियों में फैक्टी की गन्दगी डालना इत्यादि प्रकृति के प्रति किये जाने वाले क्रूर कर्म हैं । वेद स्पष्ट कहता है कि भूमि हमारी मा है हम पृथिवी के पुत्र हैं —माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या । ऐसी स्थिति में हमारा यह कर्तव्य बनता है कि हम प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का भाव रखें और यथासम्भव प्रकृति का पोषण करें न कि शोषण । इसीलिए वेद में पेड पौधों तक के प्रति दयालु होने की बात कही गई है और इसीलिए हमारे समाज में पेड पौधे लगाना पुण्य का कार्य समझा जाता है और बिना आवश्यकता के पेड-पौधों को काटना बहुत बडा पाप समझा गया है । मनु ने बिना कारण पेड की शाखा को काटने के लिये कठोर दण्ड का विधान किया है ।

जहा पेड-पौधों को ही अनावश्यक रूप से काटा जाना पाप समझा जाता हो वहा पशु पक्षियों के मारने की अनुमति देने का प्रश्न ही नही उठता । फिर पशुओं में भी गौ जैसे उपयोगी पशु को तो मा ही माना गया है । हो सकता है तुम्हारी दृष्टि में ऐसी कोई पुस्तक आ जाये जिसमें यह लिखा हो कि वैदिक काल में आर्य्य गौ मास खाते थे । यह बहुत ही नासमझी की बात है । वेद में स्पष्ट कहा गया है कि गाय निरपराध है अत किसी भी समझदार व्यक्ति को गाय नही मारनी चाहिय

प्र नु वोच चिकितुषे जनाय

मा गामनागामदितिं वधिष्ट

वेद की इतनी स्पष्ट उक्ति के बाद यह कैसे सम्भव है कि वेद गौ मारने की अनुमति दे दे ? वस्तुत मूलवेद को पढे बिना सुनी सुनाई बातों पर अनेक लोग वेद के सम्बन्ध में चाहे जो कहते रहते हैं । वेदों का विश्वास है कि गौ में सारे देवताओं का निवास है इसलिए वह अमृत का केन्द्र है । वह रुद्रों की मा है वसुओं की पुत्री है और आदित्यों की बहिन है—

माता रुद्राणा दुहिता वसूना

स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि

यहा तीन देवताओं का नाम लिया गया है—रुद्र वसु और आदित्य । इन तीन देवताओं में सारे वैदिक देवता आ गए । हमने अभी ऊपर तीन लोकों की चर्चा की है । वैदिक देवता भी तीन भागों में बटे है—पृथिवी के अन्तरिक्ष के और द्युलोक के । वसु पृथिवी के देवता हैं रुद्र अन्तरिक्ष के देवता हैं और आदित्य द्युलोक के देवता हैं । इन तीन देवताओं के साथ गौ का सम्बन्ध जोडकर वेद ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गौ में सब देवताओं का वास है ।

देवता क्या हैं—यह विषय धीरे धीरे स्पष्ट होगा लेकिन यहां तो सिर्फ इतना समझ लेना चाहिये कि तीन लोकों के देवताओं की चर्चा करके वेद ने इतना स्पष्ट कर दिया कि गौ के दूध में अन्न के वे सब अंश शामिल हैं जो सारे लोकों से अन्न में आते हैं तथा जिनकी चर्चा हमने अभी ऊपर की है ।[६]

क्योंकि गौ रुद्र देवों की मां है और रुद्र अन्तरिक्ष के देवता हैं,इसलिए गो दुग्ध में अन्तरिक्ष से आने वाला घृत अंश उपस्थित है क्योंकि गौ वसुओं की पुत्री है और पृथिवी से अन्न का दधि अंश आता है इसलिए गो दुग्ध में दधि अंश भी है और गो को आदित्यों की बहिन बतलाने का अभिप्राय यह है कि द्युलोक से आने वाला मधु तत्व भी गो दुग्ध में उपस्थित है । विष्णु लोक से आने वाला अमृत तत्व भी गो दुग्ध में है—यह गौ को अमृत की नाभि बताने से स्पष्ट होता है । इस प्रकार गो दुग्ध में अन्न में अपेक्षित सभी तत्व हैं । आज के वैज्ञानिक परीक्षण में यह सिद्ध हुआ है कि गो दुग्ध सम्पूर्ण आहार है गो दुग्ध के इसी महत्त्व को देखते हुए गौ को माता कहा जाता है । बच्चों के शरीर निर्माण के लिए यदि कोई सर्वोत्तम आहार है तो वेद के अनुसार वह गो दुग्ध है ।

इस पाठ में हमने शरीर की चर्चा की है यद्यपि प्रसङ्गवश थोडी सी चर्चा मन की भी हो गयी है क्योंकि अन्न का ही स्थूलतम भाग शरीर है तथा सूक्ष्मतम भाग मन । शरीर तथा मन के बीच की कड़ी है प्राण जो शरीर की अपेक्षा तो सूक्ष्म है किन्तु मन की अपेक्षा स्थूल है । इसलिए मन की चर्चा करने से पहले यह उचित होगा कि हम प्राण को भी समझ लें । इसलिए अगले दो पाठों में हम क्रमश प्राण और मन की ही चर्चा करेंगे ।

प्रश्न

१ जो अन्न हम खाते हे उससे हमारे शरीर का निर्माण केसे होता है ?
२ ब्रह्मचारी का क्या अर्थ है ? उसका जीवन कैसा होना चाहिये ।
३ अन्न से मन कसे बनता है ?
४ अन्न के निर्माण में विश्व का क्या योगदान है ?
५ पशु पक्षी वनस्पति ओर प्रकृति के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है ?
६ गो मे सब देवताओं का निवास है सिद्ध कीजिए ।
७ विद्यार्थी का भोजन केसा होना चाहिए ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *रसाद्रक्त ततो मास मासान्मेदस्ततोऽस्थि च ।*
अस्थ्नो मज्जा तत शुक्र शुक्राद्गर्भ प्रसादज ॥ चरक

अर्थ रस से रक्त उत्पन्न होता है रक्त स मास मास से चर्बी चर्बी से हड्डी हड्डी से मज्जा मज्जा से वीर्य तथा वीर्य की निर्मलता से गर्भ उत्पन्न होता है ।

२ *ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।*

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्व १ रा भरत ॥ अथर्ववेद

अर्थ ब्रह्मचर्य रूप तप से सब देवों न मृत्यु को दूर किया और इन्द्र ने ब्रह्मचर्य से ही देवों का तेज दिया है ।

३ *शरीरञ्चैव वाचश्च बुद्धीन्द्रियमनासि च ।*
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥ - मनु

अर्थ ब्रह्मचारी शरीर वचन बुद्धि इन्द्रिय और मन को अपने वश में करके विनम्रतापूर्वक गुरु के सम्मुख विद्या ग्रहण करने के लिए स्थित होवे ।

४ *यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वै कर्मभिरगर्हितै ।*
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ - मनुस्मृति

अर्थ पालन पोषण मात्र के लिए अपने अनिन्दित कर्मों से शारीरिक कष्ट न उठाते हुए धन सञ्चय करें ।

५ *दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् । घृतमन्तरिक्षस्य ।*
मध्वमुष्य । शतपथ ब्राह्मण

अर्थ इस लोक का रूप दधि है अन्तरिक्ष का रूप घृत है तथा द्युलोक का रूप मधु है ।

६ *स्वादुपाकरस स्निग्धमोजस्यधातुवर्द्धनम् ।*
प्राय पयोऽत्र गव्य तु जीवनीय रसायनम् ॥ अष्टाङ्ग हृदय

अर्थ गौ का दूध जीवन का रस है । वह स्वादु स्निग्ध तथा वीर्य एवम् ओज का बढ़ाने वाला है ।

द्वितीय पाठ
हमारे प्राण

अपने आपको पूरी तरह समझने के लिए जितना जरूरी शरीर को समझना है उतना ही जरूरी प्राण को समझना है । सोते जागते हमारा श्वास निरन्तर अन्दर जाता है और बाहर आता है । श्वास की इस आने जाने की क्रिया पर ही हमारा जीवन टिका हुआ है । यदि श्वास का आना जाना बन्द हो जाये तो हमारा जीवन ही समाप्त हो जाये । बिना भोजन के हम पाच सात घण्टे मजे से रह ही सकते हैं दो चार दिन भी भोजन न मिले तो कष्ट अवश्य होता है किन्तु हमारे जीवन को कोई खतरा नही होता । हमारा जीवन तो बिना भोजन के कई सप्ताह तक भी बना रहता है किन्तु श्वास के बिना हम दो चार मिनट भी नही रह सकते । इससे स्पष्ट है कि अन्न की अपेक्षा श्वास हमारे लिये कहीं ज्यादा जरूरी है । अन्न से शरीर का निर्माण होता है किन्तु इस शरीर में जो भी क्रियाए हो रही हैं वे प्राण के कारण ही हो रही हैं । सच तो यह है कि जहा भी जो भी क्रिया हो रही है वह प्राण के कारण हो रही है । ध्यान रखना चाहिये कि ससार का एक नाम जगत् भी है । जगत् का अर्थ है निरन्तर गतिशील । क्योंकि कोई भी गति बिना प्राण के नहीं होती इसलिए प्राण समस्त जगत् में फैला हुआ है ।[१] प्रश्न हो सकता है कि जगत् में तो जड पदार्थ भी है । इनमें प्राण कैसे हो सकता है ? उत्तर यह है कि जिन्हें हम जड पदार्थ कहते हैं उनमें भी इलेक्ट्रॉन बडी तेजी से गति कर रहे हैं और कोई गति बिना ऊर्जा के नही हो सकती । इसलिए यह मानना पडेगा कि इलेक्ट्रॉन की गति के पीछे ऊर्जा अवश्य है । यह ऊर्जा ही प्राण है । इतना अन्तर अवश्य है कि ऊर्जा से हमें सामान्यत चेतना रहित पदार्थ की शक्ति का बोध होता है जबकि प्राण के साथ चेतना सदा जुडी रहती है । विज्ञान पहले पेड पौधों में चेतना नही मानता था । भारत के ही एक महान् वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि पेड पौधों में भी प्राण अर्थात् चेतना है । इतना अवश्य है कि अभी तक अधिकतर वैज्ञानिक पाषाण इत्यादि में चेतना नही मानते । किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों में भी कुछ वैज्ञानिक यह अनुभव करने लगे हैं कि ससार में जड कुछ भी नही है । उदाहरणत डॉ फ्रिटजोफ कापरा अपने ग्रन्थ अनकॉमन विज्डम में लिखते हैं कि परमाणु के भी छोटे से छोटे अश से लेकर आकाश गगा तक और छोटे से छोटे जीवाणु से मनुष्य तक जो व्यवस्था दिखाई पडती है उसका कारण एक सार्वभौम मन है । आगे वे कहते है कि एक चेतना से ही सृष्टि की विविधता उद्भूत हुई लगती है । यह विषय थोडा जटिल है जिसे आप लोग थोडा बडे होने पर अच्छी तरह समझ सकेंगे । अभी केवल इतना समझ लेना काफी है कि जहा भी कोई शरीर है अर्थात् साकार पदार्थ है वहा गति है अर्थात् प्राण है और जहा भी कोई गति है वहा उसके पीछे व्यवस्था है अर्थात् मन का चिन्तन है । इसलिए इस अर्थ में कोई पदार्थ जड है ही नही जिसमें चेतना या मन नही है । पत्थर इत्यादि को हम जड इसलिए कह देते है कि उनमें इन्द्रिया नही है किन्तु चेतना वहाँ भी है । इस विषय की चर्चा हम विस्तार से मन पर विचार करते समय अगले पाठ में करेंगे ।

हमने ऊपर बताया कि अन्न में पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों का योगदान रहता है किन्तु स्पष्ट है कि इस अन्न में मुख्य भाग क्योंकि ठोस अंश का रहता है,जिसे हमने दधि कहा है। इसलिए अन्न में मुख्य अंश पृथिवी का रहता है किन्तु प्राण में मुख्य अंश वायु का है और वायु अन्तरिक्ष में रहती है इसलिए अन्न का सम्बन्ध जहाँ पृथिवी से माना जाता है वहाँ प्राण का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से माना जाता है । वायु कहो या प्राण यही गति का कारण है । प्राण के कारण ही हमारा शरीर कुछ भी कर्म करने में समर्थ होता है ।

प्राण हमारे शरीर में तो है ही हमारे शरीर के बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है । हमारे शरीर में जो प्राण है उसे अध्यात्म प्राण कहा जाता है । हमारे शरीर के बाहर रहने वाला प्राण अधिदैवत कहलाता है । पहले पाठ में हमने भूर्भुवः स्वः अर्थात् पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक की चर्चा की । हमने यह भी बताया है कि इन तीन लोकों के क्रमशः तीन देवता हैं वसु रुद्र और आदित्य । इन तीन देवताओं के ही दूसरे नाम अग्नि वायु और आदित्य है । इन तीन देवताओं के आधार पर हमारे शरीर में भी प्राण के तीन भेद हो जाते हैं अग्नि से जुड़ा प्राण प्राण कहलाता है वायु से जुड़ा प्राण अपान कहलाता है और आदित्य से जुड़ा प्राण व्यान कहलाता है । इनमें पार्थिव प्राण तथा वायव्य अपान दोनों गतिशील हैं,किन्तु सौर व्यान स्थिर है । ठीक भी है,क्योंकि पृथिवी और वायु दोनों चलते हैं,सूर्य अपेक्षाकृत स्थिर है । यदि हम अपने श्वास पर ध्यान दें तो प्राण की इन तीनों स्थितियों को स्वयं देख सकते हैं कि किस प्रकार श्वास नाभि तक आता है और पुनः नाभि से लौटकर बाहर निकल जाता है । क्योंकि प्राण ही हमारे शरीर की क्रियाओं को संयमित करता है इसलिए जिसका प्राण पर नियन्त्रण हो जाता है उसका शरीर की सब क्रियाओं पर नियन्त्रण हो जाता है । प्राणायाम का इसी कारण बहुत महत्व है । प्राणायाम की क्रिया किसी जानकार गुरु से सीखकर करनी चाहिये । जब तक प्राणायाम की क्रिया सीखने का अवसर न मिले तब तक गहरे सांस लेने का अभ्यास खुली हवा में प्रातः सायं करना चाहिये । उससे पूरे शरीर की शुद्धि होती है और व्यक्ति अनेक रोगों से बचा रहता है ।

उपनिषदों में एक कहानी के द्वारा प्राण का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है । इन्द्रियों में एक बार परस्पर इस विषय को लेकर झगड़ा हो गया कि कौन सी इन्द्रिय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ? आँख ने कहा कि मैं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हूँ । अपने महत्त्व को सिद्ध करने के लिये आँख ने एक पुरुष को छोड़ दिया । एक साल बाद आँख वापिस आई और उसने पुरुष से पूछा कि तुम्हारा काम आँख के बिना कैसे चला । पुरुष ने कहा कि मैंने एक वर्ष उसी प्रकार बिताया जैसे सब अन्धे व्यक्ति बिताते हैं । इसके बाद श्रवणेन्द्रिय ने भी ऐसा ही किया । वह पुरुष बिना श्रवणेन्द्रिय के एक वर्ष तक बहरे व्यक्तियों के समान जिया । इसके बाद जब प्राण की बारी आई और वह शरीर छोड़ने लगा तो सारी इन्द्रियाँ काँपने लगीं । उन्होंने प्राण से प्रार्थना की कि वह शरीर न छोड़े,क्योंकि प्राण के बिना उसमें से कोई भी जीवित नहीं रह सकेगा । इस कहानी से प्राण की महत्ता सिद्ध होती है ।

शरीर में प्राण के स्वरूप को जान लेने के बाद संक्षेप में विश्व में भी प्राण का स्वरूप जान लेना उचित होगा । तुमने कुछ शब्द सुने होंगे– ऋषि असुर राक्षस गन्धर्व देव इत्यादि । इन सब शब्दों का सम्बन्ध प्राण से ही है अर्थात् ये प्राण की ही विभिन्न कोटियों के नाम हैं । ऋषि उस प्राण

का नाम है जो स्वयम्भू में रहता है । पहले पाठ में हमने चार लोकों की चर्चा की,पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक और परमेष्ठी । इस परमेष्ठी से भी ऊपर स्वयम्भू लोक है । जिस प्रकार चन्द्रमा पृथिवी की और पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है उसी प्रकार सूर्य परमेष्ठी की और परमेष्ठी स्वयम्भू की परिक्रमा करता है । सृष्टि के इस प्रथम पर्व स्वयम्भू में जो ऊर्जा रहती है उसे ऋषि प्राण कहा जाता है ।[४] दूसरे पर्व परमेष्ठी में तीन प्राण रहते हैं—जलप्रधान असुर प्राण कहलाते हैं वायुप्रधान राक्षस प्राण कहलाते है और सोमप्रधान पितर प्राण कहलाते हैं । तीसरे पर्व सूर्य में रहने वाले प्राण देव प्राण है । चौथे पर्व चन्द्रमा में रहने वाले प्राण गन्धर्व प्राण हैं तथा अन्तिम पाँचवे पर्व पृथिवी में आग्नेय प्राण रहते हैं । इन प्राणों के स्वरूप के बारे में अभी इतना समझ लेना चाहिये कि ये ब्रह्माण्ड के भिन्न भिन्न भागों में ऊर्जा के भिन्न भिन्न रूप है । ऊर्जा के इन्हीं भिन्न भिन्न रूपों को ऋषि असुर राक्षस,देव,गन्धर्व आदि नामों से जाना जाता है । ऊर्जा के ये भिन्न भिन्न रूप ही सृष्टि के भिन्न भिन्न अगों में विविधता उत्पन्न करते हैं । उदाहरणत ऋषि प्राण का काम गति उत्पन्न करना है असुर प्राण अन्धकार पैदा करता है तो देव प्राण प्रकाश उत्पन्न करता है । सौम्य प्राण आर्द्र है तो आग्नेय प्राण शुष्क है । आग्नेय प्राण की शुष्कता सौम्य प्राण की आर्द्रता को आत्मसात् करती रहती है । इसे ही अग्नि में सोम की आहुति डालना कहा जाता है । यही सृष्टि में चलने वाला यज्ञ है । इस विषय का विस्तार हम यज्ञ सम्बन्धी पाठ में करेंगे ।

वेद भूत की अपेक्षा प्राण पर अधिक बल देता है क्योंकि प्राण भूत से अधिक सूक्ष्म है । सभी देवता प्राण रूप है ।[५] वेद में भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुति भी प्राणों की ही स्तुतिया हैं ।

वह प्राण मूलत एक है इसलिए मूलत देव एक ही है । किन्तु भिन्न भिन्न कर्म करने के कारण वह एक ही देव अनेक नामों से पुकारा जाता है जैसे एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न दृष्टियों से पुत्र की अपेक्षा पिता छात्रों की अपेक्षा अध्यापक और राष्ट्र की अपेक्षा भारतीय कहलाता है ।

इस पाठ में हमने प्राण का दो प्रकार का विवरण दिया एक प्राण शरीर में है एक विश्व में । दोनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है । जिस प्रकार हमने पहले पाठ में अन्न के माध्यम से शरीर से अन्न का सम्बन्ध बताया था उसी प्रकार इस पाठ में प्राण के माध्यम से हमारे और विश्व के बीच में पारस्परिक सम्बन्ध को समझना चाहिये । प्राण का विषय बहुत गम्भीर सूक्ष्म और विशाल है । प्राण सम्बन्धी इस मोटी रूपरेखा को हम यही समाप्त करते हैं । अगले पाठ में हम मन की चर्चा करेंगे ।

प्रश्न

१ प्राण का क्या कार्य है ?
२ क्या पेड-पौधे और चट्टानो में प्राण है ?
३ प्राण का देवता से क्या सम्बन्ध है ?
४ प्राण महत्त्वपूर्ण क्यों है ?
५ ऋषि असुर, राक्षस पितर, देव—इन शब्दों से तुम क्या समझते हो ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *प्राणस्येद वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम् । प्रश्नोपनिषद्*

अर्थ जो कुछ तीनों लोकों में स्थित है वह प्राण के ही वश में है ।

२ *अध्यात्म चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते । प्रश्नोपनिषद्*

अर्थ अध्यात्म प्राणों को जानकर व्यक्ति अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ।

३ *तत क्षीयते प्रकाशावरणम् । - पातञ्जलयोगसूत्र*

अर्थ प्राणायाम से विवेक-ज्ञान का आवरण दूर हो जाता है ।

४ *प्राणा ऋषय । शतपथ ब्राह्मण*

अर्थ ऋषि प्राण हैं ।

५ *कतमैका देवेतेति प्राण इति । - जैमिनीय ब्राह्मण*

अर्थ एक देवता कौनसा है ? प्राण

तृतीय पाठ

हमारा मन

बच्चों । तुम्हें पिछले पाठ में प्राण के बारे में जो कुछ बताया गया वह सम्भव है तुम्हारी समझ में पूरी तरह न आया हो किन्तु मोटे तौर पर इतना जरूर समझ लेना चाहिये कि जहा भी कोई क्रिया है वहा प्राण अवश्य है क्योंकि बिना प्राण के कोई क्रिया नही हो सकती । अब प्रश्न होता है कि जो क्रिया हमें दिखाई दे रही है वह क्रिया व्यवस्थित है या अव्यवस्थित ? मोटे तौर पर हमें दिखाई देता है कि जो क्रियाए हम करते हैं वे व्यवस्थित होती हैं और जो क्रियाए जड पदार्थ में होती है वे अव्यवस्थित होती है । किन्तु विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि जड पदार्थों की क्रियाए भी बहुत कुछ व्यवस्थित हैं । उदाहरणत पृथिवी को सूर्य के चारों ओर घूमता देखें तो पता चलेगा कि पृथिवी अपने ही मार्ग पर भ्रमण कर एक निश्चित गति से एक निश्चित दिशा में चलती है । वह अपनी धुरी पर भी चारों ओर एक निश्चित गति में घूम रही है । हम अपनी क्रियाओं में जब कोई व्यवस्था बनाते हैं तो उस व्यवस्था का एक विशेष उद्देश्य होता है । इस उद्देश्य की कल्पना चेतन ही कर सकता है क्योंकि हम किसी भी लक्ष्य को एक इच्छा से ही निर्धारित करते हैं और वह इच्छा चेतन में ही हो सकती है ।[१]

वैज्ञानिक विश्व के अन्दर अथवा छोटे से छोटे परमाणु में जो व्यवस्था देखता है उस व्यवस्था का कारण प्रकृति के कुछ नियमों को मानता है किन्तु प्रश्न होता है कि प्रकृति में भी नियम क्यों और कैसे बन गए ? क्या जड प्रकृति में ऐसे नियमों का बनना सम्भव था कि उन नियमों के कारण प्रकृति में सारा क्रिया-कलाप इतने व्यवस्थित ढग से चलता रहता है कि हमारा जीवन पूर्णत सुरक्षित रहता और हमारी सब आवश्यकताए भी पूर्ण होती रहती ? जिन्होंने भी इस पक्ष पर थाडा सा विचार किया है वे चाहे वैदिक ऋषि हों चाहे आधुनिक वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि कोई एक चेतना ऐसी है, जो पूरी प्रकृति की गतिविधियों को व्यवस्थित रूप में सचालित कर रही है । वेद में इसी चेतना को मन कहा गया है । हम सबमें कुछ न कुछ इच्छा बलवती होती है । इसकी पूर्ति के लिए हम क्रिया करते है और यदि हमारा शरीर सक्षम है तो हमारी क्रिया इच्छा को पूर्ण करने में सफल भी हो जाती है । यह इच्छा करने का काम हमारे मन का है ।

वेदों में मन की उत्पत्ति की प्रक्रिया बताई गई है । तुम जरा सा ध्यान दोगे तो यह बात समझ में आ जायेगी कि ज्ञान का कोई अन्त नही किन्तु सभी कर्म सान्त है । विशुद्ध रूप में ज्ञान अनन्त है और अनन्त में कोई इच्छा उत्पन्न होने का सवाल ही नही उठता । किन्तु सभी कर्म सान्त हैं इसलिए ज्ञान के साथ जब कर्म जुडता है तो उसकी एक सीमा बन जाती है । तुमने माया शब्द सुना होगा । सीमा का ही दूसरा नाम माया है । बस जहा सीमा बनती है वहीं इच्छा का प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि सीमित कभी सन्तुष्ट नही रहता । जहा इच्छा है वहीं मन है । यह मन ही सृष्टि का कारण बना ।

सृष्टि का कारण यह मन पारिभाषिक शब्दों में श्वोवसीयस मन कहलाता है । आज के विचारक इसे सार्वभौम मन कहते हैं । वेदों में इस मन को प्रजापति कहा गया है, क्योंकि इस मन से ही सृष्टि की रचना का प्रारम्भ होता है । क्योंकि सृष्टि की रचना का प्रारम्भ मन से हुआ इसलिए मन सब पदार्थों में व्याप्त है । सृष्टि में सब पदार्थों में मन होने पर भी मनुष्य में मन का अस्तित्व सर्वोत्कृष्ट है इसीलिए मनुष्य को मनुष्य अथवा मानव कहा जाता है ।

हमने ऊपर इस सार्वभौम मन की चर्चा की जिसकी इच्छा सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु है । सृष्टि की क्रियाओं में व्यवस्था इसी सार्वभौम मन के कारण है । इस मन को ईश्वर का मन भी कह सकते हैं । किन्तु इस ईश्वर के मन के अतिरिक्त एक और भी मन है जिसे सत्त्वमन अथवा महत् कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में भी हमारे शरीर को रक्त सचार नाडी स्पन्दन इत्यादि क्रियाओं को यह सत्त्व मन ही व्यवस्थित बनाये रहता है । अभिप्राय यह है कि अव्यय मन पूरे विश्व की क्रियाओं में व्यवस्था बनाता है सत्त्व मन एक एक शरीर की क्रियाओं में व्यवस्था बनाता है । एक तीसरा मन इन्द्रिय मन है जो सङ्कल्प विकल्प करता है । यह सङ्कल्प विकल्प जागृत अवस्था में ही होते हैं सुषुप्ति में नही । इसी के कारण हमें कुछ पदार्थ अनुकूल और कुछ पदार्थ प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। एक चौथा मन वह है जो प्रत्येक इन्द्रिय से जुडकर उसके व्यापार में सहायक होता है । तुमने देखा होगा कि कभी कभी हम मार्ग से गुजर जाते हैं किन्तु मार्ग में आने वाले पदार्थ हमारे ध्यान में नही आते। जब कोई पूछता है कि हमने अमुक पदार्थ देखा तो हम कहते हैं कि हमारा ध्यान कहीं और था इसलिए हम कह नही सकते कि वह पदार्थ मार्ग में था या नही । इसका अभिप्राय यह है कि सर्वेन्द्रिय मन जब तक किसी इन्द्रिय से जुडे नहीं वह इन्द्रिय अपना काम नही कर सकती ।

ऊपर के सारे विवरण का अभिप्राय यह है कि हमारी चेतना चार स्तरों पर काम करती है । सार्वभौम स्तर पर वह विश्व की क्रियाओं का व्यवस्थित कर रही है । इस रूप में उसका नाम श्वोवसीयस मन है । दूसरे रूप में वह हमारे शरीर की स्वचालित क्रियाओं को व्यवस्थित करती है। इस रूप में उसका नाम सत्त्व मन है । तीसरी अवस्था में वह सुख दुःख का अनुभव करती है इस रूप में उसे इन्द्रिय मन कहते हैं । चौथे रूप में वह भिन्न भिन्न इन्द्रियों से जुडकर अपने अपने व्यापार में सहायक होती है । इसे सर्वेन्द्रिय मन कहते हैं ।

श्वोवसीयस मन में ईश्वरीय इच्छा रहती है । जो व्यक्ति उस ईश्वरीय इच्छा का अनुसरण करता है वह श्रेष्ठ है । जो सत्त्व मन की स्वाभाविक इच्छाओं का अनुसरण करता है वह मध्यम कोटि का व्यक्ति है और जो सुख दुःख से प्रभावित होने वाले मन का अनुसरण करता है वह अधम कोटि का है । जो ईश्वर इच्छा का अनुसरण करता है वह प्रत्येक परिस्थिति में सुखी रहता है । सत्त्व मन का अनुसरण करने वाला व्यक्ति भी दुःख से अभिभूत नहीं होता । किन्तु इन्द्रिय मन का अनुसरण करने वाला व्यक्ति सदा दुःखी रहता है ।

आज का विज्ञान पदार्थ और उसमें रहने वाली ऊर्जा का विश्लेषण तो करता है किन्तु ऊर्जा की क्रियाशक्ति को नियन्त्रित करने वाली चेतना को विज्ञान की परिधि से बाहर मानता है । वेद में प्रतिपादित विज्ञान से आधुनिक विज्ञान का यह मौलिक भेद है । यह सन्तोष की बात है कि अब धीरे धीरे आधुनिक वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं कि मन अथवा चेतना का अध्ययन किये बिना

सृष्टि के रहस्य का पूरी तरह नही खोजा जा सकता । वेद तो यह मानता है कि सृष्टि का मूल चेतना ही है । यह चेतना ही ज्यों ज्यों कर्म के आवरण के कारण धुधली पडती है त्यों त्यों क्रमश प्राण तथा पदार्थ बन जाती है । आधुनिक विज्ञान जो ऊर्जा और पदार्थ तक ही सीमित है यदि चेतना का भी समावेश कर ले तो उसकी अपूर्णता दूर हो जायेगी । वेद के ऋषियों का हम सबके लिये यही सन्देश है कि विश्व को हम जड पदार्थों का समूह न मानें बल्कि चेतना का ही रूपान्तर मानें । यदि हम विश्व को जड मानते है तो हम उसे अपना भोग्य मानेंगे, किन्तु यदि हम विश्व को चेतन मानें तो वह हमारा भाग्य नहीं उपास्य हो जायेगा । यही कारण है कि वैदिक ऋषि सूर्य चाँद पृथिवी सबमें चेतना की ज्योति की झलक देखता है और उनकी उपासना करता है । यदि वह इन्हें जड मानता और इनकी उपासना करता तो उसे जड का उपासक कहा जा सकता था । किन्तु वेद की मान्यता तो यह है कि वह किसी पदार्थ को बिना चेतना के मानता ही नहीं । उसका कहना है कि कोई पदार्थ बिना मन के नही । यदि कहीं मन नही रहेगा तो वहा व्यवस्था भी नही रह सकती और जहा व्यवस्था नहीं रहेगी वहा वह पदार्थ ही नहीं रहेगा ।

ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद बहुत बडे हैं । इन सबका अध्ययन करना चाहिये किन्तु मनुष्य की अ‍ _छोटी है और सभी सब वेदों का अध्ययन नहीं कर सकते । ऐसी स्थिति में वेद का कहना है कि वस्तुत सभी वेद मन में निहित है ।[?] मन को समझ लिया तो सब वेदों को जान लिया । मन को वही समझ सकता है जिसने मन को जीत लिया है । जो मन का दास है वह मन को कैसे समझ सकता है ? हमारा मन दुख से भागना चाहता है और सुख की ओर दौडता है किन्तु तुम देखोगे कि यदि हम मन की ही बात मानते रहे तो ससार में कोई भी बडा या अच्छा काम कर ही नहीं सकेंगे। सभी बडे या अच्छे काम इसलिए बडे या अच्छे माने जाते हैं कि उनके करने के लिए मन को जीतना पडता है । तुम बडे या अच्छे बनना चाहो तो मन को जीतो[?] नहीं तो मन तुम्हें अपना दास बनाकर क्षुद्र नीच का‍र्यों में लगा देगा ।

प्रश्न

१ सिद्ध करो कि मन सर्वव्यापक है ?
२ सृष्टि की रचना में मन का क्या स्थान है ?
३ मन के चार प्रकार कौन से हैं और उनका क्या काम है ?
४ हमें मन की कौन सी इच्छाएँ माननी चाहिये और कौनसी नही ?
५ सूर्य-चन्द्र इत्यादि की उपासना जड की उपासना क्यों नही है ?
६ मन की सब इच्छाए पूरी करने में क्या दोष है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *मनो वै प्राणानामधिपतिः ।* शतपथ ब्राह्मण

अर्थ मन प्राणों का अधिपति है ।

२ *यस्मिन्नृच साम यजूंषि यस्मिन्*

प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।

यस्मिंश्चित्त सर्वमोतं प्रजाना

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ यजुर्वेद

अर्थ जिस मन में ऋक्,यजु ,साम उसी प्रकार स्थित हैं जिस प्रकार रथ के पहिये की धुरी में अरे प्रतिष्ठित होते हैं जिसमें सारी प्रजा का चित्त ओतप्रोत है ऐसा मेरा मन अच्छे सकल्प वाला हो ।

३ *मनोजयित् हृदयमजयित्* सामवेद

अर्थ मैंने मन को जीत लिया मैंने हृदय को जीत लिया ।

चतुर्थ पाठ

हमारा स्वरूप

हमने शरीर प्राण तथा मन की चर्चा पिछले तीन पाठों में की । प्रस्तुत पाठ में हम यह देखेंगे कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में क्या विशेषता है । विश्व में अनेक प्रकार के प्राणी हैं । उनमें पशु-पक्षी भी शामिल हैं । किन्तु मनुष्य का अपना विशेष स्थान है । इस पाठ में हमें यह विचार करना है कि मनुष्य की ऐसी क्या विशेषता है, जिसके कारण वह सब प्राणियों में श्रेष्ठ बना हुआ है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए पहले हमें अपने अस्तित्व के पाँच स्तरों को समझना होगा । इन पाँच स्तरों का कठोपनिषद् में उल्लेख है । पहला स्तर मन का है दूसरा बुद्धि का तीसरा महान् आत्मा का चौथा अव्यक्त का और पाँचवा पुरुष का । मन से हम विषयों को ग्रहण करते हैं । मन और बुद्धि में अन्तर यह है कि मन पर विषय आते हैं इसलिए मन विषयों के आधीन रहता है जबकि बुद्धि विषयों पर जाती है इसलिए विषय बुद्धि के आधीन रहते हैं । जब मन पर विषय आते हैं तो संस्कार बनते हैं जब बुद्धि विषयों पर जाती है तो विद्या का प्रादुर्भाव होता है । मन और बुद्धि के बाद महान् आत्मा आती है । महान् आत्मा का कार्य हमारे शरीर की रक्त संचार हृदयगति श्वास प्रश्वास आदि की स्वतः संचालित क्रियाओं को करना है । पिछले पाठ में हमने इसे ही सत्त्व मन कहा है । इससे भी अधिक गहरे में अव्यक्त है । अव्यक्त का कोई चिह्न नहीं । अव्यक्त तक प्रकृति है । पाँचवा स्तर पुरुष का है । पुरुष से परे कुछ नहीं है ।

इन पाँच स्तरों में रहता हुआ मनुष्य भोगों को भोगता है । इस भोगने वाली आत्मा के तीन स्तर हैं—वैश्वानर तैजस और प्राज्ञ । वैश्वानर से शरीर बनता है तैजस से उसमें क्रिया आती है और प्राज्ञ से ज्ञान होता है । वैश्वानर का सम्बन्ध अग्नि से है तैजस का वायु से और प्राज्ञ का आदित्य से । अग्नि वायु और आदित्य से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ अधिष्ठित हैं । इन अधिष्ठाता देवों का जो अंश विश्व का निर्माण करता है वह ब्रह्मौदन है तथा इन तीन के जिस अंश से हमारा निर्माण हुआ है, वह प्रवर्ग्य है । पुरुष सूक्त की प्रथम पंक्ति का पाद वैश्वानर है चक्षु तैजस है और सिर प्राज्ञ है । इन तीनों को मिलाकर ही भोक्ता नाम है । यह भोक्ता आत्मा मन पर मन बुद्धि पर बुद्धि महान् पर और महान् अव्यक्त पर टिका है ।

वैश्वानर अग्नि से क्रमशः रस रुधिर मांस मेद अस्थि मज्जा और शुक्र बनते हैं—यह हम पहले पाठ में बता चुके हैं । इसी अन्न से अन्त में ओज और मन भी बनता है । छान्दोग्योपनिषद् में थोड़ा और विस्तार करते हुए यह बताया गया है कि हमारे अन्न के तीन भाग हैं अन्न जल और तेज । अन्न से मन बनता है जल से प्राण और तेज से वाक् । अन्न के स्थूल भाग से मल बनता है मध्य भाग से मांस बनता है और सूक्ष्म भाग से मन बनता है । जल के स्थूल भाग से मूत्र बनता है मध्य भाग से रक्त बनता है तथा सूक्ष्म भाग से प्राण बनता है । तेज के स्थूल भाग से अस्थि बनती

है मध्य भाग से मज्जा बनती है और सूक्ष्म भाग से वाक् बनती है । इनमें वाक् का स्थूल प्राण को सूक्ष्म तथा मन को कारण शरीर कहते हैं । इन तीनों शरीरों की समष्टि का नाम ही व्यक्ति है ।

पाषाण आदि का स्थूल शरीर ही मुख्य है । इनमें चेतना तो है लेकिन इनमें इन्द्रिया नही हैं । इन्हें असज्ञ जीव कहा जाता है । इनके स्थूल शरीर में तमोगुण प्रधान है । वनस्पति को देखें तो उसमें तैजस का विकास हो गया है । इसलिए वह सुख दुःख का अनुभव कर सकती है किन्तु उस सुख दुःख को अभिव्यक्त नही कर सकती ।[२] पाषाण को असज्ञ कहते हैं वनस्पति को अन्त सज्ञ ।

तीसरी स्थिति पशु पक्षियों की है । इनमें वैश्वानर और तैजस के अतिरिक्त प्राज्ञ का भी विकास हो गया है । ये प्राणी ससज्ञ कहलाते हैं । असज्ञ से अन्त सज्ञ श्रेष्ठ हैं अन्त सज्ञ से बहि सज्ञ श्रेष्ठ हैं । इन तीनों में क्रमश अग्नि वायु और आदित्य का विकास हुआ है इसलिए इन तीनों को आग्नेय सृष्टि कहा जाता है ।

आग्नेय सृष्टि के अतिरिक्त एक सौम्य सृष्टि भी है । इस सौम्य सृष्टि में आठ सिद्धि और नौ तुष्टिया होती हैं । यह सौम्य सृष्टि आठ प्रकार की है—यक्ष,राक्षस पिशाच गन्धर्व,ऐन्द्र प्राजापत्य प्रैत्य और ब्राह्म । सौम्य सृष्टि के इन आठ प्रकारों में बहि सज्ञ सृष्टि के पाच प्रकार और जुड जाते हैं कृमि कीट पक्षी,पशु और मनुष्य । इन तेरह प्रकार की सृष्टियों में धातु और वनस्पति की जड सृष्टि जुडकर सृष्टि के कुल चौदह प्रकार बनते हैं । मनुष्य उनमें से एक है । इनमें जड तमोगुण प्रधान है बहि सज्ञ सृष्टि रजोगुण प्रधान है तथा सौम्य सृष्टि सत्त्वगुण प्रधान है । इस दृष्टि स देखें तो मनुष्य की अपेक्षा सौम्य सृष्टि अधिक उत्तम है । जो ऋद्धि सिद्धि यक्षादि के पास है वह मनुष्यादि के पास नहीं है । यह विवेचन गुणों की दृष्टि से हुआ जिसके अन्तर्गत मनुष्य को रजोगुण प्रधान पशु पक्षियों के समकक्ष मानकर मध्यम कोटि का माना गया है।

किन्तु शास्त्र मनुष्य को उत्तम कोटि का मानता है ।[३] हमनें ऊपर मन से अव्यक्त तक प्रकृति क विभिन्न स्तरों की चर्चा की है,किन्तु अव्यक्त के बाद पुरुष को भी माना है । प्रकृति त्रिगुणमयी है इसलिए गुणमयी प्रकृति की दृष्टि से मनुष्य अवश्य मध्यम कोटि का है किन्तु पुरुष वस्तुत गुणातीत है इसका किसी गुण से सम्बन्ध नहीं । यह पुरुष यद्यपि सर्वव्यापक है किन्तु अभिव्यक्त केवल मनुष्य जीवन में ही होता है । इसी दृष्टि स मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है । अन्य प्राणियों में आत्मा विभूति के रूप में है केन्द्र के रूप में नहीं । केन्द्र के रूप में आत्मा केवल मनुष्य में है । केन्द्र में आने पर आत्मा का ही दूसरा नाम मनु हो जाता है । इस मनु से सम्बद्ध होने के कारण ही "मनुष्य मनुष्य कहलाता है । अन्य प्राणियों की आत्मा केन्द्र में नहीं है इसलिए प्रकृति से परे नहीं जा सकते । अन्य प्राणियों के शरीर मन और बुद्धि प्रकृति से ही सञ्चालित होते रहते हैं । किन्तु मनुष्य इन तीनों से परे आत्मा तक जा सकता है जो आत्मा बुद्धि से भी परे है । मनुष्य की इन्हीं विशेषताओं से वह देवताओं से भी ऊपर है क्योंकि देवता भी प्रकृति से परे नहीं जा सकते ।

प्रकृति की दृष्टि से देखें तो मनुष्य देवों से ही नहीं पशुओं से भी छोटा है । न उसके पास सिंह जैसी शक्ति है न कोयल जैसा मीठा स्वर । इसलिए मनुष्य की विशेषता प्रकृति में नहीं पुरुष में

है। जो मनुष्य केवल प्रकृति की उपासना में लगे हैं वे देवों से तो आगे कदापि नही निकल सक्ते अनेक अशों में पशुओं से भी पिछड जाते हैं ।

शरीर की अपेक्षा देखें तो मनुष्य की एक विशेषता उसकी रीढ़ की हड्डी का पृथिवी के समानान्तर न होकर पृथिवी से आकाश की ओर नब्बे के कोण में सीधा होना है । इस कारण वह दो पावों पर खडा होता है और दो पावों को हाथ की तरह प्रयोग में ला सकता है । उसकी इस विशेषता के कारण वह सभ्यता की दृष्टि से अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत आगे निकल गया है । मनुष्य के दो पाँव होना एक विकास क्रम का सूचक है । हम वृक्ष को देखें तो उसका पूरा शरीर पाँव ही है । वह पाँव से ही भोजन ग्रहण करता है इसलिए उसे पादप कहते हैं । उसका पाँव पृथिवी को कभी नही छोड सकता,इसलिए वह चल नही सकता । दूसरी ओर पशु-पक्षी और मनुष्य सपाद हैं। उनका एक पाँव पृथिवी पर रहता है तो दूसरा पाँव पृथिवी को छोड सकता है,इसलिए वे चल सकते हैं । देवों के पाँव पृथिवी को छूते ही नही । वृक्ष में पार्थिव प्राण प्रधान है,इसलिए वृक्ष पृथिवी से सटे हुए हैं । देवों में सौर प्राण प्रधान हैं,इसलिए देव पृथिवी को छूते ही नहीं । मनुष्य में पार्थिव प्राण भी है और सौर प्राण भी है,इसलिए वह एक पाँव से पृथिवी को छूकर दूसरे पाँव को ऊपर उठा सकता है ।

सपाद प्राणियों में भी सौर प्राण का विकास मनुष्य में सबसे अधिक है और कृमि में सबसे कम । इसलिए कृमि पूरे शरीर से पृथिवी पर सर्पण करते हुए ही चलता है । उसके शरीर का कोई भी हिस्सा पृथिवी से ऊपर उठ नहीं सकता । कृमि के बाद वे कीट आते हैं जिनके हजार पाँव या सौ पाँव रहते हैं । उनका शरीर पृथिवी से ऊपर उठता है किन्तु उसके लिए उन्हें पार्थिव प्राण की अधिकता होने के कारण हजार या सौ पाँवों का सहारा लेना पडता है । जैसे जैसे पार्थिव प्राण की पकड कम होती है पाँवों की सख्या कम होती जाती है । मकडी के आठ पाँव हैं चीटी के छ और फिर चार पाँव वाले कीट आते हैं । कीटों के अनन्तर पशु सृष्टि है जो चार पाँव के बल पर पृथिवी से बहुत ऊची उठ जाती है । तदनन्तर पक्षी हैं,जिनके दो पाँव हैं और दो पख । पशु का पुच्छ भाग और मुख भाग पृथिवी के समानान्तर एक ही रेखा में है । पक्षी का मुख ऊपर हो जाता है पूँछ नीचे रह जाती है । इस प्रकार उसे रीढ की हड्डी तिरछी होने के कारण तिर्यक् कहते हैं । पक्षियों के अनन्तर वानर आते हैं । ये मनुष्यों के बहुत निकट हैं क्योंकि ये दो अगले पाँवों को बहुत कुछ हाथ की तरह प्रयोग में ला सकते हैं किन्तु ये भी अधिकतर चार ही पाँव पर चलते हैं जबकि मनुष्य केवल दो पाँव पर चलता है पर मनुष्य का सिर पक्षियों की अपेक्षा और अधिक उन्नत हो जाता है। यह मानव के शरीर के विकास की कथा है । उसमें जहा प्रकृति का अतिक्रमण करने की क्षमता है वहा उसका प्रकृति द्वारा दिया गया शरीर भी सर्वाधिक समर्थ है । इसलिए हम मनुष्य शरीर की उपेक्षा नहीं कर सकते ।

शेष सभी प्राणी प्रकृति का अनुसरण करते हैं,क्योंकि वे पुरुष के केन्द्र में न होने के कारण प्रकृति का अतिक्रमण कर ही नहीं सकते । प्रकृति का अतिक्रमण करने की शक्ति केवल मनुष्य में है । यह शक्ति न पशुओं में है न देवों में । इसलिए शास्त्र केवल मनुष्यों के लिए बने हैं न वे पशुओं के लिए बने है,न देवों के लिए । पशु या देव प्रकृति के द्वारा सञ्चालित होने के कारण उन्हीं नियमों

का पालन करते हैं,जिनका निर्धारण उनके लिए प्रकृति ने किया है । इसलिए उनके लिए कोई विकल्प नहा है । इसलिए उनके लिए शास्त्रों की आवश्यकता भी नहीं है । शास्त्र उसी के लिए उपयोगी हो सकते हैं,जो दो या दो से अधिक विकल्पों में स किसी एक विकल्प का चुनाव करन में स्वतन्त्र हो। यह स्वतन्त्रता केवल मनुष्यों को प्राप्त है न पशुओं को न देवों को । इसलिए शास्त्र मनुष्य को ही कर्त्तव्य का उपदेश देते हैं ।

प्रश्न

१ मन और बुद्धि मे क्या अन्तर हे ?
२ वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ का क्या अर्थ है ?
३ असज्ञ अन्त सज्ञ और ससज्ञ से आप क्या समझते हैं ?
४ मनुष्य देवताओं से भी ऊपर क्यों है ?
५ प्राणियो के विकास का क्या क्रम है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्"* । - महाभारत

अर्थ मैं तुम्हें गुप्त ब्रह्म बतलाता हू । मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है ।

२ *तस्माद् रुदन्ति पादपा जिघ्रन्ति पादपा हसन्ति पादपा शृण्वन्ति पादपा* । - महाभारत

अर्थ पेड रोते है सूँघते हैं हँसते हैं और सुनते हैं ।

३ *अयमग्निर्वैश्वानर योऽयमन्त पुरुषे । येनेदमन्न पच्यते यदिदमद्यते ।* शतपथ ब्राह्मण

अर्थ यह अग्नि वैश्वानर है जो कि मनुष्य के शरीर में है । जो अन्न खाया जाता है उसी से पचता है ।

पञ्चम पाठ

सभ्यता और संस्कृति

मानव ही प्रकृति का अतिक्रमण कर सकता है । इस सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में एक कथा है । कथा लम्बी है । हम यहा उसका सक्षिप्त रूप ही करेंगे । एक बार प्रजापति के सम्मुख असुर देवता पितर मनुष्य और पशु ये पाँचों आए और अपने जीवन के लिए उनस आदेश चाहा । प्रजापति ने देवताओं को वर्ष में एक बार पितरों को मास में एक बार मनुष्यों को दिन में दो बार तथा पशुओं को जब मिल जाये तब भोजन करने का आदेश दिया । कथा कहती है कि सभी प्रजापति के आदेश का पालन करते हैं किन्तु मनुष्य ही एक ऐसा है जो उस आदेश का अतिक्रमण करता है । अभिप्राय यह है कि और सब तो प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं किन्तु मनुष्य में इच्छाशक्ति का स्वातन्त्र्य है । इसलिए यद्यपि प्राकृतिक नियम से उसे दिन में दो बार खाना चाहिय किन्तु उसके सामने दिन में दो बार से अधिक खाने का भी विकल्प है और दो बार से कम खाने का या बिल्कुल नहीं खाने का भी विकल्प है । यही उसकी इच्छाशक्ति का स्वातन्त्र्य है । इसी के कारण मनुष्य के लिए कर्त्तव्य की मीमासा अपेक्षित है । जहा विकल्प नही है वहा कर्त्तव्यमीमासा का प्रश्न भी नहीं है । इस विकल्प का लाभ उठाकर ही मनुष्य ने इतना विकास किया है ।

शेष प्राणियों का अस्तित्व है जीवन केवल मनुष्य का ही है । अस्तित्व का अर्थ है पैदा होने और मरने के बीच के काल में बने रहना जीवन का अर्थ है पैदा होने और मरने के काल के बीच कुछ उपलब्ध कर लेना । पशु उत्पन्न होने के बाद मरने तक बना रहता है उसे उपलब्ध कुछ नहीं होता । मनुष्य जन्म से लेकर मरने के बीच अनेक उपलब्धिया अर्जित करता है । ज्ञान धर्म धन—ये सब मनुष्य की उपलब्धिया हैं । मनुष्य जो कुछ उपलब्ध करता है उसे आगे आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित भी करता जाता है । इसलिए मनुष्य के विकास का क्रमिक इतिहास है । पशु के क्रमिक विकास का कोई इतिहास नहीं है क्योंकि पशु कुछ ऐसा उपलब्ध नही करता जिसे अगली पीढ़ी को सौंप सके । यह मानव सभ्यता के विकास का रहस्य है कि वह केवल जीता नही है अपितु अपने जीवन में ऐसा कुछ प्राप्त भी करता है जिसे आने वाली पीढ़ी को सौंप सकता है ।

ऊपर हमने जो कहा वह भी मनुष्य की सभ्यता का ही इतिहास है । अतीत की भूलों से सीखकर भविष्य की योजनाओं के बारे में सुधार करते जाना सभ्यता तो है लेकिन इस सभ्यता में बधा मनुष्य भी काल से बधा है काल का अतिक्रमण नहीं कर पाता । इसलिए काल से बधे होने के कारण सभ्यता भी प्रकृति का हिस्सा है । प्रकृति की अपेक्षा देखें तो मनुष्य को प्रकृति से पशु की अपेक्षा बहुत कम मिलता है । पशु का नवजात शिशु मनुष्य के नवजात शिशु की अपेक्षा कहीं अधिक समर्थ होता है । मनुष्य को जीवन यापन के लिए पशु की अपक्षा कही अधिक कठोर और विस्तृत शिक्षा प्राप्त करनी पडती है । किन्तु यह शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता ही उसे पशु से

टन आग ले आती है। इस शिक्षा के दो आयाम हैं—एक तो इस शिक्षा के द्वारा मनुष्य ऐसे उपाय खोजता है, जिनसे वह प्राकृतिक बाधाओं को जीत सके। सर्दी गर्मी को जीतने के लिए वातानुकूलन थोड़े समय में अधिक दूरी पार करने के लिए द्रुतगामी वाहन रोगों पर विजय प्राप्त करने के लिए औषधियों का आविष्कार—ये सब शिक्षा के इसी आयाम के अंग हैं। शिक्षा का यह आयाम विज्ञान कहलाता है। शिक्षा का दूसरा आयाम ज्ञान है। ज्ञान द्वारा हम प्रकृति से लड़ते नहीं हैं बल्कि प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं। प्रकृति की अनुकूलता हमें सुख देती है प्रतिकूलता दुःख। ज्ञान सुख दुःख दोनों से ऊपर उठाता है। शिक्षा की पहली दिशा ने सभ्यता का विकास किया शिक्षा की दूसरी दिशा ने संस्कृति को जन्म दिया।

सभ्यता की दृष्टि से हम यह विचार करते हैं कि पदार्थ कब बना और किन तत्त्वों से बना। किन्तु जब हम आत्मदृष्टि से विचार करते हैं तो हम पदार्थ से नहीं अपितु काल से प्रारम्भ करते हैं। तब हमें काल का न आदि दिखाई देता है न अन्त और अनादि अनन्त काल अनाद्यनन्त चेतना का हेतु बन जाता है। चेतना से जुड़ कर काल काल पुरुष हो जाता है जिसकी शक्ति का नाम महाकाली है। इस प्रकार हम प्रकृति से संस्कृति की ओर जड़ से चेतन की ओर और सान्त से अनन्त की ओर जाने लगते हैं। यही प्रकृति से संस्कृति की ओर बढ़ने की प्रक्रिया है।

प्रकृति पहले है संस्कृति बाद में। प्रकृति में दो शब्द हैं—प्र और कृति। प्र कारण है कृति कार्य है। कारण एक है और अव्यक्त है। कार्य अनेक हैं और व्यक्त है। यह एक का अनेक और अव्यक्त का व्यक्त हो जाना ही सृष्टि है। कृति उपयोग में आती है। संस्कृति का सम्बन्ध उपयोग से नहीं योग से है। योग और उपयोग का भेद समझने के लिए सूर्य और पृथिवी का उदाहरण लिया जा सकता है। हमारे उपयोग में पृथिवी आती है सूर्य नहीं किन्तु पृथिवी के उपयोगी बने रहने के लिए सूर्य का निरन्तर योग आवश्यक है। यदि सूर्य का योग न हो तो पृथिवी भी अनुपयोगी हो जाए। संस्कृति सूर्य के समान है। प्रकृति पृथिवी के समान है। उपयोग में तो प्रकृति ही आती है किन्तु यदि संस्कृति का योग न हो तो प्रकृति भी अनुपयोगी हो जाती है।

विज्ञान के अनेक आविष्कारों में अस्त्र शस्त्र का मुख्य स्थान है। पत्थर के हथियारों से लेकर आणविक शस्त्रों तक के विकास की एक लम्बी कहानी है। आत्मरक्षा के लिए अथवा अन्यायी के विरुद्ध पीड़ित की रक्षा के लिए शस्त्र बहुत उपयोगी है। किन्तु शस्त्र के पीछे संस्कृति न हो तो शस्त्र आत्मरक्षा अथवा पीड़ित की रक्षा के स्थान पर आक्रमण तथा शोषण का साधन बन सकता है। इसलिए जरूरी है कि जिसके हाथ में शस्त्र हो उसके शरीर पर बुद्धि का नियन्त्रण हो और उसका मन आत्मानुगत हो। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि जिसके हाथ में शस्त्र ही नहीं है, वह केवल संस्कृति के बल पर न अपनी आत्मरक्षा कर सकता है न अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर सकता है। इसलिए वेदों में अस्त्र शस्त्रों की कामना की गई है वीर लड़ाकू योद्धाओं की कामना की गई है किन्तु [illegible] दृष्टि आत्मरक्षा की है आक्रमण की नहीं।

सभ्यता का सम्बन्ध प्रकृति से है। बुद्धि प्रकृति का नियन्त्रण करती है। बुद्धि द्वारा नियन्त्रित सभ्यता [illegible] बन जाती है। दूसरी ओर आत्मा प्रकृति का नियन्त्रण नहीं करता बल्कि प्रकृति का अतिक्रमण करता है। प्रकृति का अतिक्रमण ही संस्कृति बन जाती है।

बुद्धि प्रकृति पर नियन्त्रण रखे और आत्मा प्रकृति का अतिक्रमण करे तो सभ्यता भी संस्कृति में सहायक हो जाती है ।

हमारा धर्म साहित्य तीन भागों में बटा है श्रुति स्मृति और पुराण । श्रुति में आत्मधर्म है स्मृति में मनोधर्म और पुराण में शरीरधर्म । आत्मधर्म संस्कृति है मनोधर्म सभ्यता का आन्तरिक स्वरूप है तथा शरीरधर्म सभ्यता का बाह्य स्वरूप है । श्रुति में संस्कृति का प्रतिपादन है स्मृति में कर्त्तव्य का और पुराणों में सभ्यता का ।

प्रत्येक कृति के पीछे इच्छा रहती है । जब तक वह इच्छा व्यक्तिगत है तब तक कृति कृति ही है किन्तु जब हमारी इच्छा ईश्वर से जुड जाती है तो उस इच्छा से प्रेरित होने वाली कृति संस्कृति बन जाती है । व्यक्तियों की इच्छा अलग अलग है ईश्वर की इच्छा एक ही है । सम् का अर्थ है एक । इसलिए ईश्वर की इच्छा से जुडी हुई इच्छा से बनने वाली कृति संस्कृति कहलाती है ।

हमारे चार घटक हैं—शरीर मन बुद्धि और आत्मा । शरीर और मन का सम्बन्ध कर्म से है । बुद्धि और आत्मा का सम्बन्ध ज्ञान से है । कर्म क्षात्र धर्म है ज्ञान ब्राह्म धर्म है । क्षत्रियों का देवता वरुण है ब्राह्मणों का देवता मित्र । ये दोनों मिलकर मित्रावरुण कहलाते हैं । मित्र संस्कृति का देवता है वरुण सभ्यता का । वरुण हमारे शरीर और मन को नियंत्रित रखता है । मित्र हमारी संस्कृति की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है । मित्र और वरुण दोनों मिलकर जीवन की समग्रता बनाते हैं । इनमें भी वरुण मित्र का मुखापेक्षी है । शरीर और मन को क्रमशः बुद्धि और आत्मा के अधीन रखना है इसी में इनका कल्याण है । क्षात्र शक्ति का भला इसी में है कि वह ब्राह्म शक्ति के अधीन रहे ।

सौर मण्डल में तीन पिण्ड मुख्य दिखाई देते हैं पृथिवी चन्द्र और सूर्य । इन तीन पिण्डों के तीन ही महिमा मण्डल हैं । इस प्रकार तीन पिण्ड और तीन महिमामण्डल मिलकर छ हो जाते हैं । इन छ से छ भाव जुडे हैं । भूपिण्ड से अन्न जुडा है और भू के महिमामण्डल से अन्नाद और चन्द्रपिण्ड से पशु जुडा है तथा चन्द्र के महिमामण्डल से प्रजा । सूर्य पिण्ड से यश जुडा है और सूर्य के महिमा मण्डल से ब्रह्मवर्चस । इनमें पिण्ड से जुडने वाले यश पशु और अन्न सभ्यता के अंग हैं । महिमा मण्डल से जुडने वाले ब्रह्मवर्चस प्रजा और अन्नाद संस्कृति के अंग हैं । ये सभ्यता उपयोग में आती है संस्कृति का योग बना रहता है । किन्तु यदि संस्कृति का योग न रहे तो सभ्यता का उपयोग भी समाप्त हो जाता है ।

एक दूसरी अपेक्षा से देखें तो सत्य शिव सुन्दरम् संस्कृति के तीन अंग हैं । सूर्य से जुडी बुद्धि सत्य को खोजती है चन्द्रमा से सम्बद्ध मन सुन्दरता को चाहता है तथा पृथिवी से जुडा शरीर शिव को चाहता है । दूसरे शब्दों में शरीर का अर्थ चाहिये मन का काम और बुद्धि का धर्म । जहा तक मोक्ष का सम्बन्ध है वह इन तीनों से परे आत्मा का स्वभाव है । शरीर हमारी आकृति है जिसका सम्बन्ध पृथिवी से है । मन हमारी प्रकृति है जिसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है और बुद्धि हमारी अहङ्कृति है जिसका सम्बन्ध सूर्य से है । हमारी आकृति में तमोगुण मुख्य है प्रकृति में रजोगुण और अहङ्कृति में सत्व गुण । ये तीनों मिलकर हमें सभ्यता प्रदान करते है । कभी हम सभ्यता का विभाजन आकृति के आधार पर करते हैं जैसे काले लोगों की सभ्यता गोरे लोगों की सभ्यता । सभ्यता के विभाजन

का यह आधार बहुत स्थूल है । इसकी अपेक्षा प्रकृति के आधार पर सभ्यता का विभाजन अधिक सूक्ष्म है । उदाहरणतः पंजाब की सभ्यता राजस्थान की सभ्यता । सभ्यता का सबसे अधिक सूक्ष्म आधार संस्कृति है । उदाहरणतः हिन्दू सभ्यता मुस्लिम सभ्यता आदि । किन्तु संस्कृति इन तीनों से परे है । क्योंकि संस्कृति का आधार इन तीनों से परे है संस्कृति का आधार आत्मा है और आत्मा गुणातीत है । इसलिए सभ्यता भले ही अनेक प्रकार की हो किन्तु संस्कृति के कोई भेद नहीं होते । संस्कृति सार्वभौम है, इसलिए वेद में संस्कृति को विश्ववारा कहा गया है— सा संस्कृति प्रथमा विश्ववारा ।

प्रश्न

१ मनुष्य और पशु के जीवन में क्या अन्तर है ?
२ प्रकृति का संस्कृति से क्या सम्बन्ध है ?
३ संस्कृति की क्या आवश्यकता है ?
४ सभ्यता का क्या फल है और संस्कृति का क्या फल है ?
५ संस्कृति सार्वभौम कैसे होती है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवान् अन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभि ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या । तैत्तिरीयोपनिषद्*

अर्थ उसने आनन्द को ही ब्रह्म जाना । यह भार्गवी वारुणी विद्या परम व्योम में प्रतिष्ठित है । जो ऐसा जानता है वह अन्नवान् होता है अन्नाद होता है तथा प्रजा पशु ब्रह्मवर्चस तथा कीर्ति से महान् होता है ।

षष्ठ पाठ

चार पुरुषार्थ

पिछले पाठ में सभ्यता और सस्कृति के स्वरूप को तथा इन दोनों के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया । जिस प्रकार पिण्ड का महिमामण्डल होता है उसी प्रकार सस्कृति सभ्यता का महिमामण्डल है । पुष्ट सभ्यता ही सस्कृति में निखार लाती है । सभ्यता भोग का विषय है सस्कृति योग का । भोग और योग का समन्वय जीवन को सर्वांगीण दृष्टि प्रदान करता है । वैदिक जीवन दृष्टि ऐसी ही है । मनु ने कहा है कि चारों आश्रमों में गृहस्थ सर्वश्रेष्ठ है ।[1] गृहस्थाश्रम में सब भोग रहते हैं । किन्तु उस आश्रम की श्रेष्ठता भोग में नही अपितु इस बात में है कि उसमें भोग के साथ योग भी रहता है । वैदिक धर्म में स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है[2] और कोई यज्ञ पत्नी के बिना पूरा नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि केवल गृहस्थ ही यज्ञ का अधिकारी है । गृहस्थ में पति पत्नी का सम्बन्ध शारीरिक न होकर आत्मिक है । इस बात का समझने के लिए यह समझना चाहिये कि प्रेम के चार रूप हैं १ बडों के प्रति किया जाने वाला प्रेम श्रद्धा है २ छोटों के प्रति किया जाने वाला प्रेम वात्सल्य है ३ बराबर वालों के प्रति प्रेम स्नेह है ४ जड के प्रति किया जाने वाला प्रेम काम है । जब इन चारों भावों का समन्वय होता है तो वह रति कहलाता है । उपासक का उपास्य के प्रति रतिभाव भक्ति है । पति पत्नी का एक दूसरे के प्रति रतिभाव शृङ्गार है । विशेष बात यह है कि रति में प्रेम के चारों रूप समाहित है । इसलिए कालिदास ने पत्नी को गृहिणी सचिव सखी और शिष्या सब कुछ बताया है । यही रति अपने उत्कृष्ट रूप में आत्मरति बन जाती है जो मोक्ष का कारण है ।

दाम्पत्य रति का आत्मरति में परिणत हो जाना सदा सम्भव नही है । इसके लिए तप चाहिये । सामान्यत यह समझा जाता है कि सेक्स का सम्बन्ध मन से है किन्तु वस्तुत सेक्स का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है । अनादि काल से सञ्चित होने वाली वासनाए इसी सूक्ष्म शरीर में ही रहती है । इस वासना के कारण सूक्ष्म शरीर में एक तरग उत्पन्न होती है जो कारण शरीर में आकर इच्छा का रूप धारण कर लेती है । यह इच्छा स्थूल शरीर के स्तर पर अभिव्यक्त होना चाहती है । ऐसी स्थिति में हमारे पास दो विकल्प होते हैं—या तो हम स्थूल शरीर के स्तर पर उस इच्छा को अभिव्यक्त होने दें अथवा अभिव्यक्त न होने दें । यदि हम उस इच्छा को अभिव्यक्त होने देते हैं तो वह इच्छा और उस इच्छा को उत्पन्न करने वाली तरङ्ग लगातार पुष्ट होती जाती है और उसकी बारम्बार पुनरावृत्ति होती है । इसलिए मनु ने कहा है कि काम का उपभोग करने से काम कभी शान्त नही होता प्रत्युत जिस प्रकार घी डालने से अग्नि भडकती है उसी प्रकार काम का उपभोग करने से काम बढता है घटता नही ।[3] यह भोग का मार्ग है । दूसरी ओर योग के मार्ग की दो स्थितियां हैं—या तो हम सूक्ष्म शरीर में उत्पन्न होने वाली तरग को कारण शरीर में इच्छा का रूप ही न धारण करने दें जो कि आन्तरिक तप कहलाता है या यदि इच्छा उत्पन्न हो ही जाये तो स्थूल शरीर के स्तर पर

स इच्छा को अभिव्यक्त न होने दें जो कि बाह्य तप है । देवताओं ने तप और ब्रह्मचर्य के द्वारा ही मृत्यु तक को जीत लिया था—ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । ऊपर जो हमने दाम्पत्य रति के आत्मरति में परिणत हो जाने की चर्चा की है ऐसा तभी सम्भव है जब गृहस्थ में प्रवेश करने से पहले पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया गया हो । क्योंकि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन शरीर को इस योग्य बना देता है कि काम का ठीक प्रकार से भोग किया जा सके । काम का ठीक भोग ही काम से विरक्ति उत्पन्न कर सकता है । आश्रम व्यवस्था में क्रम यह है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाये ताकि आगे गृहस्थाश्रम में काम का भोग करने का अवसर प्राप्त होने पर काम को ठीक से भोगा जा सके और गृहस्थाश्रम में काम को ठीक से भोगे जाने के पश्चात् वानप्रस्थ में काम के प्रति विरक्ति हो जाती है जो सन्यासाश्रम की स्थिति आने तक व्यक्ति को काम के पार ले जाती है ।

आज के मनोवैज्ञानिकों में फ्रायड इत्यादि ने कहा है कि काम का दमन बुरा है । वैदिक जीवन दृष्टि में भी काम को चार पुरुषार्थों में एक पुरुषार्थ माना गया है । इसलिए काम के दमन का प्रश्न ही नही है । किन्तु काम का दमन जितना बुरा है उससे ज्यादा बुरा कहीं काम का स्वच्छन्द उपभोग है जिसका परिणाम आज एडस जैसी भयकर बीमारियों के रूप में आ रहा है । आहार निद्रा भय तथा मैथुन ये चार ऐसी प्रवृत्तिया हैं जो मनुष्य और पशु में समान रूप स पाई जाती हैं । जीवन की रक्षा के लिये ये चारों आवश्यक भी है । किन्तु इस सन्दर्भ में पशु और मनुष्य में एक मौलिक भेद है । पशु प्रकृति के जगत् में ही रहता है । इसलिए उसके जीवन में सेक्स के पार जाने की कोई सम्भावना नहीं है । मनुष्य त्रिगुणमयी प्रकृति में रहते हुए गुणातीत पुरुष तक जा सकता है । इसलिए मनुष्य के जीवन में ही ब्रह्मचर्य सम्भव है । मनुष्य को केवल शरीर ही मानें तो एक अश तक डार्विन का विकासवाद सुसङ्गत प्रतीत होता है । किन्तु मनुष्य केवल शरीर नही है आत्मा भी है । यह आत्मा शरीर से ही नहीं मन और बुद्धि से भी परे है । शरीर मन और बुद्धि तीनों प्रकृति के अङ्ग हैं आत्मा पुरुष है । प्रकृति की उपेक्षा करके नहीं बल्कि प्रकृति को समझने के बाद ही हम प्रकृति का अतिक्रमण करके पुरुष तक जा सकते हैं । प्रकृति सान्त है पुरुष अनन्त । युगधर्म प्रकृति से आता है पुरुष शाश्वत धर्म का आधार है । काम को भोगें किन्तु आत्मा को भूले नही तो हम काम का अतिक्रमण कर सकते हैं । यही वास्तविक काम पुरुषार्थ है ।

ऊपर हमनें काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में कुछ कहा । काम पुरुषार्थ का सम्बन्ध मन से है । काम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये पदार्थों की अपेक्षा रहती है । उन पदार्थों को उपार्जित करना पुरुषार्थ है । वर्तमान में दो आर्थिक व्यवस्थाए हमारे सामने हैं—एक पूजीवादी व्यवस्था और दूसरी साम्यवादी व्यवस्था । वैदिक चिन्तन एक तीसरी ही अर्थ व्यवस्था का समर्थक है । उस वैदिक अर्थव्यवस्था की विशेषता पर ध्यान देना आवश्यक है । व्यक्ति में सहज ही अधिक से अधिक अर्थ उपार्जित करने की प्रवृत्ति रहती है । पूजीवादी व्यवस्था इस प्रवृत्ति में कोई प्रतिबन्ध नही लगाती । इस व्यवस्था के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह जितना धन चाहे एकत्र करे और उस धन को एकत्र करन के लिए कोई भी व्यवसाय चुने क्योंकि इस व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य अर्थोपार्जन है । इसलिए यह व्यवस्था उपभोक्ता सस्कृति को जन्म देती है । इस सस्कृति के अन्तर्गत येन केन प्रकारेण बाजार में अपना उत्पादन खपाना होता है । इसके लिए विज्ञापनों का सहारा लिया

जाता है । बल पदार्थ की गुणवत्ता पर नहीं प्रदर्शनीयता पर अधिक रहता है । जब किसी राष्ट्र में यह प्रवृत्ति पनपती है तो उपनिवेशवाद का जन्म होता है । एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने आधीन बनाना चाहता है । जो वर्ग आर्थिक रूप से सम्पन्न होता है वह उस वर्ग का शोषण भी करता है जो अर्थ साधनहीन है ।

पूजीवाद से उत्पन्न दोषों का निराकरण करने के लिए साम्यवादी व्यवस्था आई । इस व्यवस्था में व्यक्ति के धन सग्रह की एक सीमा रहती है । उससे अधिक धन व्यक्ति सगृहीत नहीं कर सकता । इस व्यवस्था में मजदूर और किसानों के शोषण पर भी रोक लगाई जाती है क्योंकि मजदूर और किसान ही वस्तुत अर्थोत्पादन करते हैं । इस व्यवस्था के अन्तर्गत राजनैतिक स्वतन्त्रता नहीं के बराबर होती है क्योंकि यह माना जाता है कि यदि प्रजातान्त्रिक ढग से राजनैतिक स्वतन्त्रता दे दी जाये तो आर्थिक रूप से सम्पन्न लोग राजनैतिक सत्ता को हथिया कर उसका दुरुपयोग करेंगे ।

साम्यवादी व्यवस्था को मानने वाली सबसे बडी शक्ति सोवियत सघ थी किन्तु आज सोवियत सघ बिखर चुका है । पूर्वी यूरोप भी साम्यवादी व्यवस्था को छोड चुका है । पूजीवादी व्यवस्था का गढ अमेरिका है । वहा भी बढते हुए अपराधों की सख्या समाज की तलाकों की सख्या परिवार की और अनिद्रा रोग से ग्रस्त व्यक्तियों की सख्या व्यक्ति की दयनीय स्थिति की सूचना दे रहे हैं । भारत जैसे देश कुछ अश पूजीवाद का और कुछ अश समाजवाद का लेकर एक मिश्रित अर्थव्यवस्था की कल्पना कर रहे हैं ।

वैदिक अर्थव्यवस्था एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था है जो पूजीवादी अर्थव्यवस्था और समाजवादी अर्थव्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है । इस अर्थ व्यवस्था का मूल मन्त्र यह है कि अर्थ हो चाहे काम उसका मूल धर्म है—धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते । यहा धर्म का अर्थ कर्त्तव्यपालन है । पूजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था में बल इस बात पर रहता है कि किसका क्या अधिकार है ? वैदिक अर्थव्यवस्था में बल इस बात पर है कि किसका क्या कर्त्तव्य है ? यह कर्त्तव्य बोध आर्थिक क्षेत्र में स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण रखता है । यह नियन्त्रण अन्त स्फूर्त है बाहर से आरोपित नहीं किया जाता ।

इस अर्थव्यवस्था के दो पक्ष हैं । पहले पक्ष के अन्तर्गत हमारे अर्थ सग्रह की मात्रा का नियमन इस आधार पर होता है कि हमारी आवश्यकता कितनी है ? यह पाया गया कि ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और सन्यास के अन्तर्गत क्योंकि ज्ञान और धर्म की उपासना मुख्य होती है इसलिए अर्थ की आवश्यकता बहुत कम है अत इन आश्रमों में अर्थ सग्रह का निषेध है केवल गृहस्थ ही अर्थ सग्रह कर सकता है । गृहस्थों में भी ब्राह्मणों के लिए अपरिग्रह का जीवन विहित है ।[४] इस प्रकार समाज का एक बहुत छोटा अश अर्थसग्रह करता है शेष लोग आवश्यकता मात्र की पूर्ति के लिए अर्थ का उपयोग करते हैं । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जो जितने भी अर्थ का उपयोग करता है वह उस अर्थ को साधन समझता है साध्य नहीं । इसलिए उस अर्थ के प्रति उसके मन में कोई आसक्ति नही होती न वह अर्थोपार्जन के लिए अनुचित साधन बरतता है । पूजीवादी व्यवस्था और समाजवादी व्यवस्था दोनों ही व्यवस्थाओं पर ध्यान देती है व्यक्ति पर नही । वैदिक व्यवस्था समाज के साथ व्यक्ति पर भी बल देती है । साम्यवादी व्यवस्था में श्रम पर बहुत बल दिया जाता

है । वैदिक व्यवस्था के अन्तर्गत श्रम महत्वपूर्ण है किन्तु श्रम से अधिक महत्वपूर्ण परिश्रम है और परिश्रम से अधिक महत्वपूर्ण आश्रम है । श्रम शारीरिक है उसका सम्बन्ध व्यक्ति से है परिश्रम बौद्धिक है उसका लाभ परिवार जनों तक सीमित है । किन्तु आश्रम का सम्बन्ध आत्मा से है और उसका सम्बन्ध प्राणि मात्र से है । इसलिए वैदिक परम्परा में न साम्यवादी परम्परा की तरह श्रम सर्वोपरि है न पूजीवादी व्यवस्था की तरह धन सर्वोपरि है सर्वोपरि है आश्रम । चार आश्रमों में मनुष्य के चार पुरुषार्थों का समावेश करते हुए उसके सर्वांगीण विकास की व्यवस्था की गई है । ब्रह्मचर्य आश्रम में सर्वप्रथम मन के सयम द्वारा शरीर को सशक्त और बुद्धि को विकसित किया जाता है । प्रत्येक व्यक्ति में तीन प्रकार की इच्छाए रहती हैं यश की इच्छा धन की इच्छा तथा पुत्र की इच्छा । किन्तु इनमें किसी भी इच्छा की पूर्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक शरीर सशक्त न हो मन सयमित न हो और बुद्धि विकसित न हो । ब्रह्मचर्य आश्रम में इन तीनों को साधने के बाद गृहस्थाश्रम में लोकैषणा वित्तैषणा और पुत्रैषणा की पूर्ति की व्यवस्था रहती है किन्तु धर्म की मर्यादा के अन्तर्गत । गृहस्थाश्रम में जो धर्म अर्थ और काम का साधन बनता है वानप्रस्थ में वही धर्म साध्य बन जाता है । गृहस्थ का धर्म कर्म प्रधान है वानप्रस्थ का धर्म उपासना प्रधान है । यही धर्म जब ज्ञान प्रधान बनता है तब सन्यास आश्रम सिद्ध होता है । यही अन्तिम आश्रम है क्योंकि ज्ञान से परे कुछ भी नहीं है—न हि ज्ञानात्पर किञ्चित् ।

वैदिक धर्म विवेचना की यह विशेषता है कि वह कुछ धर्मों को सार्वभौम मानती है जो सबके लिए है किन्तु कुछ धर्म वर्ण धर्म है जिनका आधार व्यक्ति की अपनी प्रकृति है । अवस्था के साथ ही व्यक्ति के कुछ धर्म भी बदलते हैं उन धर्मों को आश्रम धर्म कहा जाता है । इस प्रकार वर्ण आश्रम व्यवस्था में मनुष्य सार्वभौम धर्मों के पालन करने में बधा हुआ है, किन्तु स्वभाव तथा अवस्था के अनुसार भिन्न भिन्न धर्मों के पालन करने की भी उसे स्वतन्त्रता है । वर्णाश्रम व्यवस्था के महत्व को देखते हुए उसी की चर्चा हम अगले पाठ में भी चलायेंगे ।

प्रश्न

१ गृहस्थ आश्रम का महत्व क्यों है ?

२ ब्रह्मचर्य का क्या महत्व है ?

३ वदिक अर्थ व्यवस्था समाजवादी तथा पूजीवादी व्यवस्था से किस रूप में भिन्न है ?

४ चार आश्रमों का क्या स्वरूप है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।*
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ मनु स्मृति

अर्थ क्योंकि तीनों आश्रम वाले गृहस्थाश्रमी से ही ज्ञान तथा अन्न को प्रतिदिन प्राप्त करते हैं इस कारण गृहस्थाश्रमी ही सबसे श्रेष्ठ है ।

२ *यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।*
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया ॥ मनु स्मृति

अर्थ जिस कुल में स्त्रियों का सम्मान होता है उस कुल पर देवता प्रसन्न होते है और जिस कुल में स्त्रियों का सम्मान नहीं होता उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं ।

३ *न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।*
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ मनु स्मृति

अर्थ विषयों के उपभोग से इच्छा कभी शान्त नहीं होती बल्कि घी से अग्नि के समान वह इच्छा फिर बढती ही जाती है ।

४ *कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।*
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ मनु स्मृति

अर्थ ब्राह्मण को केवल बारह दिन अथवा छः दिन अथवा तीन दिन अथवा एक दिन मात्र के लिए अन्नादि का संग्रह करना चाहिए । इनमें भी पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ।

५ *न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।*
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ मनु स्मृति

अर्थ आजीविका के लिए कभी भी सामान्य लोगों के समान (अधर्म का) अनुसरण न करें अपितु कुटिलता और शठता से रहित ज्ञानी के समान आजीविका अर्जित करें ।

सप्तम पाठ

वर्णाश्रम व्यवस्था

पुरुष सूक्त में चार वर्णों का उल्लेख है—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र । इन चार वर्णों को क्रमश पुरुष का मुख भुजा जघा और पाद बताया गया है । इस रूपक में यह बात स्पष्ट है कि ये चारों वर्ण एक दूसरे के परिपूरक और सहयोगी है । पश्चिम विकास का आधार स्पर्धा मानता है किन्तु वर्ण व्यवस्था विकास का आधार पारस्परिक सहयोग को मानती है । व्यवसाय की दृष्टि से वर्ण व्यवस्था आनुवशिक व्यवसाय अपनाने पर बल देती है । इसका अर्थ यह है कि सामान्यत व्यक्ति में पैतृक व्यवसाय में दक्षता प्राप्त करने की अधिक सम्भावना रहती है । पिता का व्यवसाय पुत्र के लिए गुण कर्म तथा स्वभाव की दृष्टि से अधिक सरज होता है । इस समय भारतीय समाज नये प्रयोग करने में लगा है जिसके अन्तर्गत पैतृक व्यवसाय अपनाने को उत्साहित नही किया जा रहा ।

क्या यह एक विसङ्गति नहीं है कि एक ओर यह कहा जाता है कि शारीरिक श्रम करने वाला छोटा नहीं है और दूसरी ओर यह माना जा रहा है कि परम्परा से शारीरिक श्रम द्वारा आजीविकार्जन करने वाला तभी उन्नति कर सकेगा जब वह शारीरिक श्रम के कार्यों को छोडकर उन व्यवसायों को अपनायेगा जिनमें शारीरिक श्रम की आवश्यकता नहीं है ? ऋग्वेद में जिसे शूद्र कहा है उसे पुरुष के पाँव से उत्पन्न हुआ बताया गया है । इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह हेय है । जिस पुरुष सूक्त में शूद्र को पाँव से उत्पन्न हुआ बताया है उसी पुरुष सूक्त में भूमि को भी पुरुष के पाँव से उत्पन्न हुआ बताया गया है । हम सब जानते है कि वेद में भूमि को माता कहा गया है । यदि पुरुष के पाँव से उत्पन्न होने के कारण कोई चीज हेय होती तो भूमि को माता कभी न माना गया होता । वेद में भूमि को माता ही नहीं कहा गया अपितु प्रत्येक आस्तिक हिन्दू शय्या से उठने के बाद प्रथम नमस्कार भूमि को करता है । कोई कारण नही कि उसी पुरुष के पाँव से उत्पन्न शूद्र को हेय माना जाये । वस्तुत पुरुष के पाँव से शूद्र और पृथिवी दोनों के उत्पन्न होने की बात का यह अर्थ है कि शूद्र पृथिवी का पुत्र है । वस्तुस्थिति यह है कि शूद्र श्रम द्वारा विभिन्न उपयोगी उत्पादनों से हमारी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करता है । रोटी कपडे-मकान की भौतिक आवश्यकताओं के पूर्ण होने के अनन्तर ही ऊची बौद्धिक उडान की जा सकती है । इसलिए शूद्र का समाज में वही स्थान है जो स्थान किसी भवन में नींव के पत्थर का होता है । नींव का पत्थर भले ही सबसे नीचे रहता है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण होता है । यजुर्वेद में बढई रथ का निर्माण करने वाले कुम्हार लौहकार इत्यादि को नमस्कार किया गया है । यदि वेद की दृष्टि में ये हेय होते तो इन्हें नमस्कार न किया जाता—

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नम कुलालेभ्य कर्मारेभ्यश्च वो नम ।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि शूद्र वर्ण पूषा से जुड़ा है—वही सबका पोषण करता है—स शौद्र वर्णमसृजत पूषणम्, इय वै पूषा इय हीद सर्व पुष्यति यदिद किञ्च ।

वस्तुत शूद्र जो कठोर श्रम करता है यजुर्वेद ने उसको तप जैसी महनीय सज्ञा दी है—तपसे शूद्रम् । ये सब बातें यहा इसलिए कहनी आवश्यक हो गई हैं कि वेदोक्त वर्णव्यवस्था पर विषमता का आरोप लगाते हुए यह कहा जाता है कि वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र को बहुत नीचा स्थान दे दिया गया है । यह सच है कि साहित्य में बहुत से ऐसे अश मिल जायेंगे जहा शूद्रों की निन्दा है किन्तु वहा शूद्र का अर्थ है—जो जरा से सुख दुख से विचलित हो जाय—आशु द्रवति इति शूद्र । जो छोटे से ही सुख दुख से विचलित हो जायेगा वह सदा भय और लालच का शिकार रहेगा इसलिए उसकी निन्दा रहती है । किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि ऐसी शूद्रता तो जन्म से सब में होती है—जन्मना जायते शूद्र । सस्कार ही इस शूद्रता को दूर कर सकते हैं—सस्कारेण द्विज उच्यते । जो सस्कारहीन है वह ब्राह्मण घर में जन्म लेते हुए भी शूद्र ही है । इसी अपेक्षा से अनेक प्रकार के ब्राह्मणों में एक शूद्र ब्राह्मण भी गिनाया गया है ।

जहा तक जन्म का सम्बन्ध है जन्म के कारण इस देश ने न वाल्मीकि को छोटा माना न वेद-व्यास को । जुलाहे और चर्मकार होते हुए भी कबीर और रैदास सदा सन्तों की कोटि में पूज्य माने गये ।

जहा तक समानता और विषमता का सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में वैदिक दृष्टि बहुत स्पष्ट है । दृष्टि हमारी सबके प्रति सम होनी चाहिये क्योंकि सबकी आत्मा समान है । किन्तु हम सबके प्रति समान व्यवहार नहीं कर सकते । व्यवहार यथायोग्य ही करना चाहिये । न सबका स्वभाव एक जैसा है न सबकी क्षमता एक जैसी है । फिर सबके प्रति समान व्यवहार करने का दुराग्रह प्राकृतिक नियम के विरुद्ध होगा । इसलिए हम समदर्शी हो सकते हैं समवर्ती नहीं । वस्तुत प्रकृति में कहीं समता नहीं है । समता पुरुष अर्थात् आत्मा के स्तर पर ही होती है, किन्तु व्यवहार का आधार आत्मा नहीं प्रकृति है । वर्ण व्यवस्था सबको समान नहीं मानती वह विविधता को स्वीकार करती है । उसकी दृष्टि में श्रमजीवी और बुद्धिजीवी समान नहीं हैं एक दूसरे के परिपूरक हैं ।

ये सब बातें इसलिए कहनी आवश्यक हो गई हैं कि वर्ण व्यवस्था पर भेदभाव बरतने का आरोप लगाया जाता है ।

कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में एक घटना है कि पुलिस वाले एक मछुए को पकड लेते हैं । जाच पडताल के दौरान वह अपना व्यवसाय बताता है तो पुलिस वाले उस पर व्यग्य करते हैं कि उसका व्यवसाय तो बहुत उत्तम है । इस व्यग्य के उत्तर में जो मछुआरा कहता है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है । वह कहता है कि परम्परागत कोई भी व्यवसाय हेय नहीं है । वस्तुत वर्णव्यवस्था का यही मर्म है जिसे जानने के बाद यह आरोप लगाना सम्भव नहीं है कि वर्णव्यवस्था ऊच नीच का भेदभाव करती है ।

वर्ण विभाजन का आधार यह है कि व्यक्ति की रुचि भिन्न भिन्न है, अत उसके व्यवसाय भी भिन्न ही होने चाहिये । ऐसे व्यक्ति जो बुद्धि से विशेष प्रतिभाशाली नहीं हो किन्तु शारीरिक श्रम

करने में समर्थ हैं शारीरिक श्रम में ही लगने चाहिये । इसके विपरीत रजोगुण प्रधान व्यक्तियों के लिए क्षात्र धर्म उचित है तथा सत्त्व प्रधान व्यक्तियों के लिए ब्राह्मण धर्म । हम वर्णव्यवस्था का कितना भी विरोध करें किन्तु यह बात स्पष्ट है कि प्रकृति में भिन्न भिन्न रुचि वाले लोग होते रहेंगे । वर्णव्यवस्था यह स्वीकार करती है कि सभी प्रकार के मनुष्य समाज के लिए आवश्यक है । मनुष्य को जिस कार्य में आत्मसन्तोष हो वही कार्य करना चाहिये । किसी कार्य को ऊंचा समझकर यदि अपनी प्रकृति के प्रतिकूल हम उस कार्य को अपनायेंगे तो हमें कभी आत्मसन्तोष नहीं होगा ।

वर्णाश्रम व्यवस्था तथा चार पुरुषार्थों के कुछ विशेष पक्षों पर विचार करने के अनन्तर अब हम यह देखेंगे कि चार वर्ण चार आश्रम चार पुरुषार्थ तथा शरीर,मन,बुद्धि और आत्मा के चार विकास किस प्रकार चार वेदों से जुड़े हैं ?

सर्वप्रथम ऋग्वेद को लें । तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋग्वद का सम्बन्ध मूर्त पदार्थों से जोड़ा गया है । इसलिए ऋग्वेद सभ्यता के मूर्त पक्ष का प्रतिनिधि है । पुरुषार्थों में अर्थ पुरुषार्थ तथा शारीरिक अभ्युदय सभ्यता का मूर्त पक्ष है । हमारे चिन्तन का प्रारम्भ बिन्दु शरीर ही है । हमारे जीवन की प्रथम आवश्यकता भी अर्थ है । मूर्त पक्ष से जुड़ा हुआ ऋक् अग्नि से जुड़ा हुआ है । ऋग्वेद का मुख्य देवता अग्नि बताया जाता है । अग्नि ऊर्जा है । समस्त कर्म और श्रम ऊर्जा से ही निष्पन्न होते हैं ।[1] कर्म और श्रम में अग्रणी भूमि पुत्र शूद्र है । वही अपने श्रम से वसुन्धरा के वसु को प्रकट करता है । श्रम के समय उसकी धूल धूसरित देह मानों उसे सचमुच भूमिपुत्र बना देती है । इसीलिए तो वेद में भूमि और शूद्र दोनों की उत्पत्ति पांव से बताई गई है । हम पहले ही कह चुके हैं कि पृथिवी का देवता पूषा शूद्र का भी देवता है । इसलिए शूद्र समाज को आर्थिक रूप से पुष्ट बनाता है । यजुर्वेद कहता है कि शूद्र का निर्माण तपस्या के लिए हुआ । दूसरी ओर प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम भी *श्रम और तप का आश्रम है* ।[2] भले ही ब्रह्मचारी राजपरिवार का क्यों न हो, किन्तु ब्रह्मचर्य आश्रम में उसे अत्यन्त कठोर जीवन बिताना पड़ता है । इस प्रकार का कठोर जीवन उसे भावी जीवन के सुख दुःख सहन करने की क्षमता प्रदान करता है । जिस राष्ट्र का श्रमिक वर्ग श्रम से और विद्यार्थी परिश्रम से मुह मोड़ ले उस समाज के मानों पाँव ही टूट जाते हैं क्योंकि श्रमिक की श्रम शीलता ही वे पाँव हैं जिन पर समाज का पुरुष खड़ा है ।

हम केवल शरीर नहीं है हमारा मन भी है । शरीर का शत्रु तमोगुण है मन का शत्रु रजोगुण है । रजोगुण मन को चचल बनाये रखता है । तमोगुण शरीर को गतिहीनता की ओर ले जाता है । आवश्यकता इस बात की है कि शरीर को कर्म द्वारा गतिशील बनाया जाये और मन को उपासना द्वारा स्थिर किया जाये । सभ्यता का यह दूसरा अंश यजुर्वेद से जुड़ा है ।[3] मन गतिशील है । यजुर्वेद का देवता भी वायु है जो सदा गतिशील रहता है । मन की सब कामनाएं पूरा करने का अवसर केवल गृहस्थ को मिलता है । काम पुरुषार्थ की साधना भी गृहस्थ में ही होती है । वर्णों में हमारी कामनाओं की पूर्ति वैश्य वर्ण करता है क्योंकि वही हमें सब आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराता है ।[4] इस प्रकार सभ्यता के मानसिक पक्ष का सम्बन्ध यजुर्वेद से है । इस पक्ष में काम पुरुषार्थ गृहस्थ आश्रम और वैश्य वर्ण में समाहित होता है ।

सभ्यता का तीसरा पक्ष बुद्धि से जुडा है । बुद्धि का काम है विवेक । विवेक का ही दूसरा नाम धर्म है । *व्यक्तिगत जीवन में यह धर्म ही व्यक्ति के अर्थ और काम को नियन्त्रित करता है ।* सामाजिक जीवन में अर्थ और काम की स्वच्छन्दता को नियन्त्रित करने का कार्य प्रशासक वर्ग का है । पुरानी भाषा में इस प्रशासक वर्ग को ही क्षत्रिय कहा जाता है । क्षत्रिय तेजस्वी होता है तभी समाज में व्यवस्था बनाये रख सकता है ।[५] तेज का सम्बन्ध सामवेद से है क्योंकि साम का देवता आदित्य है। जहा क्षत्रिय अपने क्षात्र तेज से समाज को विशृखलित होने से रोकता है वहा वानप्रस्थ अपने तप द्वारा व्यक्तियों को नियत्रित करता है । जब तक यह नियन्त्रण है तब तक राष्ट्र सुरक्षित है और तभी तक व्यक्ति उच्छृखल और समाज विश्रृखल नही होता ।

अब तक हमने ऋक् यजु और साम से जुडे शरीर मन बुद्धि अथवा अर्थ काम धर्म की चर्चा की । यह त्रयी विद्या है । इसे सभ्यता कहें अथवा अपरा विद्या कहें अथवा अविद्या कहें । एक चौथा पक्ष सस्कृति का है जिसका सम्बन्ध आत्मा से है परा विद्या से है । यह विषय अथर्ववेद का है । आत्मा बुद्धि से परे है । शरीर मन बुद्धि के क्रमश अग्नि वायु और आदित्य देवता हैं । ये तीनों ही अग्नि के रूप हैं । इनसे जुडे ऋक् यजु साम तीनों अग्नि वेद है । चौथा वेद अथर्ववेद सोम वेद है । जिस प्रकार अग्नि सोम के बिना अधूरी है उसी प्रकार वेदत्रयी अथर्ववेद के बिना अधूरी है तथा शरीर मन और बुद्धि आत्मा के बिना अधूरी है । सभ्यता सस्कृति के बिना अधूरी है । अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा जाता है । ब्रह्म में सब देवताओं का समावेश है ।[६] ब्रह्म को जानने वाला ही ब्राह्मण है । उसका मुख्य धर्म आत्मा की उपासना है । यह आत्मा ही वास्तविक सोम है जिसे पीकर व्यक्ति अमर हो जाता है ।[७] सन्यासी भी अपनी आवश्यकताए पूरी करता है किन्तु त्यागपूर्वक । इसी प्रकार ब्राह्मण भी अपनी आवश्यकताए त्यागपूर्वक ही पूरी करता है । यह मोक्ष का मार्ग है[८] क्योंकि यहा गुणों का बन्धन नहीं है । आत्मा गुणातीत है यही वैदिक ज्ञान का अन्तिम छोर है इसलिए इसे वेदान्त कहा जाता है ।

चार वेदों से जुडे चार पुरुषार्थ चार वर्ण और चार आश्रम मनुष्य जीवन की सतुलित तथा सर्वाङ्गीण विकास की योजना है और यही वैदिक जीवन दृष्टि की विशेषता है ।

प्रश्न

१ समाज में शूद्र वर्ण का क्या स्थान है ?
२ समानता का तथा विषमता का क्या अर्थ है ?
३ वर्णव्यवस्था का क्या आधार है ?
४ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद सभ्यता तथा सस्कृति के किन-किन पक्षों से जुड़े हैं ?

अष्टम पाठ

हमारा पर्यावरण

आधुनिक विज्ञान के विकास ने हमारी आखो म चकाचौंध पैदा कर दी है किंतु उसी विज्ञान के विकास ने हमें विनाश के उस कगार पर भी लाकर खडा कर दिया जहाँ हमें अपनी आश्रयदात्री पृथ्वी का अस्तित्व ही सकटमय दृष्टिगोचर हो रहा है । पर्यावरण की चिंता से प्रेरित होकर अनेक राजनेता और वैज्ञानिक पृथ्वी की सुरक्षा के सबध में नाना उपायों पर विचार कर रहे हैं । यह एक शुभ लक्षण है । किंतु आधुनिक विज्ञान के पीछे जो जीवन दृष्टि है और उस जीवन दृष्टि ने जो जीवन शैली हमें दी है जब तक हम उसमें आधारभूत परिवर्तन करने के लिए उद्यत नही होंगे पर्यावरण की रक्षा का हमारा सङ्कल्प फलीभूत नही होगा ।

वेदो का देव विज्ञान—

सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न हाती है कि आधुनिक विज्ञान द्वारा दी गई जीवन शली का विकल्प क्या है ? इस विकल्प की खोज हमें अनायास वेद विज्ञान के द्वार पर लाकर खडा कर देती है । पारस्परिक भेद बतलाने के लिए हम आधुनिक विज्ञान को भूत विज्ञान तथा वेद विज्ञान को देव विज्ञान कह सकते हैं । देव शब्द सुनकर हममें से अधिकतर लोगों का ध्यान किसी ऐसी चीज पर जाता है जो वास्तविक नहीं होकर कल्पना पर टिकी है और इसलिए हम इस शब्द से पराडमुख हो जाते हैं किंतु वास्तविकता यह है कि वेद के क्षत्र में ऐसा कुछ भी नहीं है जो काल्पनिक या अन्ध विश्वास पर टिका हो । देव एक प्रकार की प्राणशक्ति है । इस प्राण के अनेक भेद हैं,किंतु इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि विश्व में ऐसा कुछ भी नहीं है जो निष्प्राण हो । प्राण का आधार तो भूत ही है किंतु भूत की सत्ता प्राण के बिना सभव नही है । इस प्रकार प्राण और भूत दोनों एक दूसरे से अविनाभाव पूर्वक जुडे हैं । भूत मर्त्य है देव अमृत है ।

तीन लोक तीन देव—

देव विज्ञान की दृष्टि से कोई पदार्थ जड नहीं है क्योंकि प्राण सबमें है । देव विज्ञान की दृष्टि से ही भूमि को अपनी माँ और अपने को भूमि का पुत्र कहना सार्थक हो सकता है अन्यथा पृथ्वी को जड मानें तो आलङ्कारिक रूप में पृथ्वी को भले ही माँ कहते रहें,किन्तु वास्तविक अर्थ में पृथ्वी को माँ कहना हास्यास्पद ही होगा । वेद विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी वस्तुत हमारी माँ है,क्योकि पृथ्वी प्राण युक्त है । पृथ्वी के प्राण का नाम अग्नि है । इसी प्रकार द्यु-लोक के प्राण का नाम आदित्य तथा अन्तरिक्ष लोक के प्राण का नाम वायु है । यह अग्नि वायु और आदित्य ही तीन देवता हैं जिनमें अग्नि के आठ रूप वायु के ग्यारह तथा आदित्य के बारह रूप हैं । इन इकतीस में दो अश्विनी

कुमार—नासत्य एवं दस्र—जो सन्धि के देवता हैं मिलकर तैंतीस देवता बन जाते हैं। ये ३३ देवता जिन तीन अग्नि वायु और आदित्य के भेद हैं वे तीनों भी वस्तुतः एक ही अग्नि के तीन रूप हैं। अग्नि का घन रूप अग्नि है तरल रूप वायु है तथा विरल रूप आदित्य है। इस प्रकार वैदिक दृष्टि एक में अनेक और अनेक में एक को देखती है। अनेक में एक को देखना ज्ञान है तथा एक में अनेक को देखना विज्ञान है।

पृथ्वी का देवता: अग्नि—

हम यहाँ सब देवताओं के विस्तार में नहीं जा सकते किन्तु अग्नि पर थोडा सा विचार इसलिए करेंगे कि अग्नि पृथ्वी का देवता है और हमें मुख्यतः पृथ्वी पर विचार करना है। सभी देवताओं के तीन रूप हैं। अग्नि के भी तीन रूप हैं—आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक। अग्नि के जिस रूप से वर्तमान वैज्ञानिक परिचित हैं वह अग्नि का आधिभौतिक रूप है जिसे हम अंग्रेजी में फायर" शब्द से कह सकते हैं। अग्नि का जो विरल रूप सूर्य में आदित्य प्राण के रूप में है वह अग्नि का आधिदैविक रूप है। जठराग्नि रूप में वैश्वानराग्नि आध्यात्मिक है। ध्यान रहे वेद में अध्यात्म शब्द का प्रयोग शरीर से सम्बद्ध पदार्थ के लिए होता है। वेद में अध्यात्म का वह अर्थ नहीं है जो अंग्रेजी के स्पिरिचुअल शब्द का है। "स्पिरिचुअल शब्द उस चिन्तन परम्परा का है जिसमें आत्मा और शरीर को दो भिन्न पदार्थ माना जाता है। वेद विज्ञान की दृष्टि में तो सब कुछ ही ब्रह्म है,इसलिए वहाँ अध्यात्म का वह अर्थ नहीं है जो अंग्रेजी के स्पिरिचुअल शब्द का है।

अग्नि के दो रूप

पृथ्वी का देवता अग्नि है। अग्नि के दो रूप हैं—एक पिण्ड में ओत प्रोत रूप है दूसरा रूप वह है जो पिण्ड के चारों ओर पिण्ड की महिमा के रूप में रहता है। पिण्ड में रहने वाला रूप चिति तथा पिण्ड के महिमा मण्डल में व्याप्त रूप चितेनिधेय कहलाता है। अग्नि का जो चितेनिधेय रूप पिण्ड के महिमा मण्डल में फैला है वह भू पिण्ड तक सीमित नहीं है बल्कि सूर्य के बाद तक फैला है। भू पिण्ड के इस महिमा मण्डल को ही प्रथित अर्थात् विस्तीर्ण होने के कारण पृथ्वी कहा जाता है। इस प्रकार भूमि और पृथ्वी पर्यायवाची नहीं है। पृथ्वी महिमा मण्डल है जो बहुत विस्तीर्ण है भूमि एक पिण्ड है,जो उस महिमा मण्डल की अपेक्षा बहुत छोटा है। भू पिण्ड का अग्नि मर्त्य है। पृथ्वी का अग्नि अमृत है। आधुनिक भाषा में कहें तो पृथ्वी भूमि का पर्यावरण है। प्राचीन भाषा में कहें तो भूमि भूत है पृथ्वी देवता है। इन दोनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। महिमा मण्डल पिण्ड के बिना नहीं टिक सकता न पिण्ड की सत्ता महिमा मण्डल के बिना है। इसलिए विचारकों की यह चिन्ता उचित है कि पर्यावरण के क्षत विक्षत हो जाने पर भूमि का क्या होगा।

आठ वसु

भूमि में जो अग्नि घन रूप में है वह वसु कहलाती है। इसके आठ भाग हैं—ध्रुव धरुण सोम आप वायु अग्नि प्रत्यूष तथा प्रभास। जिस प्रकार पृथ्वी का देव वसु है उसी प्रकार द्यु लोक का देव इन्द्र है। पृथ्वी की अग्नि सूर्य की ओर जाती है तथा सूर्य का इन्द्र पृथ्वी की ओर आता है। इन दोनों

क मिलने स प्रकृति में एक यज्ञ हो रहा है जिसे एन्द्राग्नि यज्ञ कहा जाता है। जब इन्द्र यमु अग्नि से मिलता है तब उसका नाम वासव हो जाता है। पृथ्वी का जो रूप आदित्य प्राण स युक्त हो जाता है वह अदिति कहलाता है और जो आदित्य प्राण से वंचित रह जाता है वह दिति कहलाता है। अदिति दृश्य है दिति अदृश्य है।

तीन त्रिलोकी और पृथ्वी

पृथ्वी सब भूतों का रस कही जाती है। आकाश का गुण वायु में आ जाता है आकाश और वायु का गुण तेज में आ जाता है आकाश वायु तेज का गुण जल में आ जाता है और आकाश वायु तेज तथा जल चारों का गुण पृथ्वी में आ जाता है। इसलिए पृथ्वी को भूतों का रस कहा जाता है। जिस भू पिण्ड पर हम बैठे हैं यह भू पिण्ड विश्व में एक पूरी व्यवस्था स जुड़ा हुआ है। हमारे विश्व के पाँच पिण्ड मुख्य है। इनमें तीन पृथ्वी चन्द्रमा और सूर्य तो हमें दिख रहे हैं। इसके अतिरिक्त दो पिण्ड और हैं—परमेष्ठी और स्वयम्भू। इन पाँच पिण्डों की तीन त्रिलोकी बन जाती है। एक हमारी त्रिलोकी का भू भूमि है भुव अन्तरिक्ष में चन्द्रमा है और स्व द्यौ में सूर्य है। यह रोदसी त्रिलोकी कहलाती है। इसके ऊपर क्रन्दसी त्रिलोकी है जिसकी पृथ्वी स्व लोक अन्तरिक्ष मह लोक और द्यौ जन लोक नाम का लोक है जिसे परमेष्ठी भी कहा जाता है। इसके ऊपर एक और संयती नाम की त्रिलोकी है जिसकी भू परमेष्ठी भुव तपलोक और स्व सत्यलोक अथवा स्वयम्भू है। इस प्रकार तीन तीन त्रिलोकी के तीन त्रिलोक हैं। वर्तमान विज्ञान केवल इनमें से एक ही त्रिलोक की चर्चा करता है। इन तीन त्रिलोकियों में भू भुव स्व मह जन, तप तथा सत्यम् नामक सात लोक हैं तथा पृथ्वी चन्द्रमा सूर्य परमेष्ठी और स्वयम्भू—ये पाँच पुण्डीर है। इस प्रकार हमारी पृथ्वी एक विस्तृत विश्व व्यवस्था का अङ्ग है।

विश्व व्यवस्था का आधार यज्ञ

विश्व व्यवस्था का मूल यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ है आदान प्रदान। इस आदान प्रदान से उत्पन्न होने वाले अपूर्व भाव की उत्पत्ति को यज्ञ कहा जाता है। अग्नि में सोम की आहुति दी जाती है यह प्रदान है और अग्नि सोम को स्वीकार करता है यह आदान है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि अग्नि में सोम की आहुति से जो फल प्राप्त होता है वह आदान है। सूर्य से जो सौर अग्नि पृथ्वी पर आ रही है पृथ्वी वनस्पतियों में उस अग्नि को ग्रहण कर रही है। इसी प्रकार सूर्य में भी परमेष्ठी से सोम आ रहा है जिस सोम को भोजन बनाकर सूर्य की अग्नि निरन्तर प्रज्वलित है। अग्नि में सोम की आहुति का यज्ञ सर्वत्र चल रहा है। इसलिए पूरा विश्व एक यज्ञ है। प्रकृति ने इस यज्ञ का स्वरूप ऐसा बनाया है कि उस यज्ञ में यदि किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर दिया जाये तो विश्व का स्वरूप अस्त व्यस्त होने लगता है। प्रत्येक पदार्थ के दो पक्ष हैं—एक अग्नि रूप और दूसरा सोम रूप। जो दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है वह हमारा अग्नि रूप है तथा जो पदार्थ आत्मसात् किया जाता है वह सोम है। इस आदान प्रदान की व्यवस्था प्रकृति ने जितनी उत्तम की है उससे अधिक अच्छी व्यवस्था मनुष्य नहीं कर सकता है। मनुष्य ने अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा उस व्यवस्था में जहाँ जहाँ अपनी समझ में अच्छाई के लिए परिवर्तन किया वहाँ वहाँ प्रकृति ने उसे दण्डित किया।

एक वाक्य में पर्यावरण प्रदूषण का कारण है—प्रकृति द्वारा आदान प्रदान रूप में चलाए गए यज्ञ में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है कि वह लेना चाहता है देना नही चाहता। प्रकृति का नियम है कि आदान और प्रदान का सन्तुलन रहना चाहिए। जब हम प्रकृति से कुछ लेते हैं तो देना भी चाहिए। जितना आवश्यक जीवन के लिए सङग्रह है उतना ही आवश्यक त्याग भी है। यदि हम भोजन ही करते रहें और मल विसर्जन नहीं करें तो हमारे शरीर की स्थिति दयनीय हो जाती है। त्याग के बिना सङग्रह का ऐसा ही दुष्परिणाम होता है। वेद में इसी त्याग को तप शब्द से कहा गया है। तप का अर्थ है कि हम कुछ छोड कर रिक्त स्थान बनाए ताकि नवीन का ग्रहण हो सके ।

पर्यावरण और अपरिग्रह

हम प्राय यह समझते है कि देने में हानि होगी। वेद हमें यह ज्ञान देता है कि परिमित पदार्थ में से कुछ निकाल लिया जाए तो परिमित पदार्थ कम हो जाता है किंतु यदि पूर्ण में से पूर्ण को भी निकाल लिया जाए तो पूर्ण में कोई न्यूनता नही आती पूर्ण ही शेष रहता है पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

वेद हमें बतलाता है कि हम अमृत के पुत्र हैं ब्रह्म स्वरूप हैं बृहणशील हैं। इसलिए अनावश्यक सङग्रह हमारे लिये आवश्यक नहीं है। अनावश्यक सङग्रह परिग्रह है और परिग्रह इस अज्ञान से उत्पन्न होता है कि हम मरणधर्मा है यदि हमारे पास अमुक अमुक पदार्थ नही होंगे तो हम मर जायेंगे। वस्तु स्थिति यह है कि हम अमृत रूप हैं हमें अपना बचाव करने के लिए परिग्रह की आवश्यकता नही है। जहाँ यह ज्ञान नही है वहाँ पर परिग्रह होता है और इसलिए परिग्रह को मूर्छा कहा गया है—मूर्छा परिग्रह ।

वायु तथा आदित्य का महत्व

भूमि से अधिक महत्वपूर्ण भूमि का वातावरण है। भूमि के वातावरण को वेद में पृथ्वी कहा है। यह पृथ्वी भूमि का महिमामण्डल है। इस महिमामण्डल में भूमि ही नही, अन्तरिक्ष और द्यौ भी शामिल हैं । पृथ्वी का देवता अग्नि है अन्तरिक्ष का वायु और द्यौ का देवता आदित्य है। इनमें अग्नि में रस है किन्तु वायु रसतर है और आदित्य रसतम है। इसलिए जितनी हानि भूमि को क्षति पहुचाने से होती है उससे अधिक हानि वायु को क्षति पहुचाने से होती है। ओजोन की परत में छिद्र होने से सूर्य की विषैली किरणों का जो सकट उत्पन्न हुआ है वह भूमि को क्षति पहुचने से नहीं बल्कि वायुमण्डल को क्षति पहुचने से हुआ है। जो अन्न हम लेते हैं उसमें अग्नि वायु और आदित्य तीनों का योगदान रहता है। अग्नि उसमें दधि अन्तरिक्ष उसमें घृत और आदित्य मधु प्रदान करता है। कृत्रिम साधनों से जब हम फसल को समय से पहले पका देते हैं या वनस्पति का आकार प्राकृतिक आकार से अधिक बडा बना देते हैं तो उस अन्न में पार्थिव तत्व अधिक हो जाता है वायु आर आदित्य का तत्व पूरा नहीं हो पाता है। परिणामत उसमें घृत तत्व तथा मधु तत्व कम रह जाता है। घृत तत्व के कम होने स उसमें स्निग्धता नही रहती आर मधु तत्व के कम होने स उसमें मिठास नही आ पाती है। यही कारण है कि कृत्रिम खाद्य आदि देकर तैयार की गयी फसल में स्निग्धता एव

मधुरता नही रहती है और यदि हमारे अन्न में स्निग्धता और मधुरता नही होगी तो हमारे व्यवहार में स्निग्धता और मधुरता कहा से आयेगी ? परिणाम यह हो रहा है कि स्निग्ध और मधुर अन्न के अभाव में हमारे व्यवहार में भी रूक्षता आ रही है। आतकवाद जडें जमा रहा है। अन्न ही हमारा मन बनाता है। यह वेद विज्ञान की एक सूक्ष्म खोज है जिसे अनपढ भारतीय भी जैसा अन्न वैसा मन कह कर प्रकट कर देता है। किन्तु शायद यह बात बडे से बडे भौतिक वैज्ञानिक की पकड से बाहर इसलिए रह जाती है कि वह भूत को ही अपना विषय बनाता है मन को नही। वह भूत और मन के बीच के गहरे सबध की उपेक्षा करता है। वेदविज्ञान की स्थिति यह है कि उसका विवेचन देवताओं पर केन्द्रित है। देवता प्राण रूप हैं और यह प्राण मन तथा वाक् के पात्र में प्रतिष्ठित है। वाक् शब्द भूत का वाचक है और मन चेतना का बतलाता है। वेद विज्ञान के अनुसार जड और चेतन में मौलिक मतभेद नही है केवल तारतम्य का भेद है। जहाँ इन्द्रियों का विकास नही हुआ उसे हम जड कहते हैं। वस्तुत स्थिति यह है कि सभी कुछ चेतन है। भूत विज्ञान की पकड से यह चेतन बाहर रह जाता है इसलिए उसका भूत परक विश्लेषण भी अधूरा ही माना जाएगा।

यज्ञ वेदि पृथ्वी

वेदविज्ञान में पृथ्वी को वेदि कहा गया है। वेदि पर ही वेद प्रतिष्ठित हैं। पृथ्वी की वेदि पर जो वेद प्रतिष्ठित हैं, उन्हें गायत्री मात्रिक वेद कहा जाता है। पृथ्वी के साथ छन्द वेद तथा वेदि शब्द का प्रयोग यह बतला रहा है कि यज्ञ की अवधारणा पृथ्वी से गहरे रूप से जुडी है। एक यज्ञ दाम्पत्य यज्ञ भी है जिससे प्रजा उत्पन्न होती है। इस यज्ञ की परिभाषा में द्यौ पिता है और पृथ्वी माता है। द्यौ की सौर अग्नि और पृथ्वी की पार्थिव अग्नि का सम्पर्क ही वह यज्ञ है जिस पर समस्त विश्व टिका है।

हम और पर्यावरण

वेद विज्ञान में मनुष्य को जिन चीजों की आवश्यकता है उन्हें छ शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है—अन्न अन्नाद प्रजा पशु कीर्ति और ब्रह्म वर्चस। इनमें अन्न और अन्नाद का सबध भू पिण्ड और पार्थिव मण्डल से है पशु और प्रजा का सबध चन्द्र पिण्ड और चन्द्र मण्डल से है ब्रह्म वर्चस और कीर्ति का सबध सूर्य पिण्ड और सौर मण्डल से है। इस प्रकार मनुष्य की सभी आकाक्षाए पर्यावरण से जुडी हैं और पर्यावरण का दूषित होना मनुष्य जीवन का दूषित हो जाना है।

अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त

अथर्ववेद में जो लम्बे सूक्त हैं, उनमें से पृथ्वी सूक्त है जिसमें ६३ मत्र दिए गए है। पर्यावरण की चिन्ता करने वालों को इस सूक्त को राष्ट्रगीत की तरह विश्व गीत घोषित कर देना चाहिए। इस सूक्त में पूरी पृथ्वी की चिन्ता है किसी सम्प्रदाय विशेष जाति विशेष या देव विशेष की नही। इस सूक्त की प्रथम पक्ति में ही पृथ्वी को धारण करने वाले आठ तत्व बताये गये हैं।

सत्य बृहदृतमुग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवी धारयन्ति ।

इन आठ तत्त्वों में तप ब्रह्म और यज्ञ की चर्चा हमने ऊपर की है । इस पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई कि पृथ्वी तेजस्विता से सुरक्षित रहती है । यदि पर्यावरण को बचाना हो तो जीवन को विलासिता से बचाना होगा । विकास के नाम पर हम प्रकृति का शोषण विलास के लिए अधिक करते हैं आवश्यकता की पूर्ति के लिए कम । सुविधा जुटाने के नाम पर आधुनिक विज्ञान मनुष्य को विलासिता का दास बनाता है,जबकि वेदविज्ञान मनुष्य को ऋतु के अनुकूल जीवन जीना सिखा कर इतना समर्थ बनाने का मार्ग दिखाता है कि उसे विलासिता के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता हीं नहीं रहती है । अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में पृथ्वी के सस्य श्यामला होने का अत्यत गौरवपूर्ण भाषा में उल्लेख है । वैदिक ऋषि की पृथ्वी सूक्त में पृथ्वी के वातावरण के लिए जो जागरूकता है उसका सङ्केत देने के लिए यहा एक दो मन्त्र उद्धृत है—ऋषि कहता है—हे भूमे । तुम्हारे जो कन्द मूल आदि हम खोदते हैं वे शीघ्र ही पुन उत्पन्न हो जाए क्योंकि हमने तुम्हें खोदते समय तुम्हारे मर्म को आघात नहीं पहुचाया है तुम्हारे हृदय पर चोट नहीं लगाई है—

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्र तदपि रोहतु ।

मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥

पृथ्वी पर प्रसन्नतापूर्वक नाचने गाने वाले मनुष्यों का बहुत सजीव चित्र इस सूक्त में दिया गया है—

यस्या गायन्ति नृत्यन्ति भूम्या मर्त्या व्यैलबा ॥

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अथर्ववेद का ऋषि राष्ट्र की सीमाओं का अतिक्रमण करके यह घोषणा कर रहा है कि इस पृथ्वी पर जो मनुष्य रहते हैं वे भिन्न भिन्न भाषाए बोलते हैं और भिन्न भिन्न धर्मों को मानने वाले हैं तथा यह पृथ्वी उन सभी का घर है—

जन बिभ्रति बहुधा विवाचस

नानाधर्माण पृथिवी यथौकसम् ।

ऋषि पृथ्वी की महिमा से अच्छी तरह परिचित है वह कहता है मैं जो कुछ मधुर बोलता हूँ, हे पृथ्वी ! वह तुम्हारी ही कृपा का फल है मुझे जो कुछ प्रिय दिखाई देता है वह भी तुम्हारी ही कृपा का फल है । मैं तुम्हारी ही कृपा से तेजस्वी और वेगवान् बना हूँ और तुम्हारी ही कृपा से साधु पुरुषों की रक्षा और दुर्जनों का नाश कर सका हूँ—

यत् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।

त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधत ॥

इस प्रकार पूरे वैदिक साहित्य में पर्यावरण की रक्षा क सबध में गम्भीर सङ्केत पद पद पर मिलते हैं। हमारे दश के पास यह एसी अमूल्य सम्पदा है जिसके आधार पर यह सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में अपना अपूर्व योगदान दे सकना है। यही हमारे ऋषि ऋण से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है।

प्रश्न

१ अग्नि के रूप कौनसे है ?
२ यज्ञ का पर्यावरण के सदर्भ मे क्या अर्थ है ?
३ अपरिग्रह पर्यावरण की रक्षा मे कैस सहायक है ?
४ पर्यावरण पर हमारा जीवन किस प्रकार टिका ह ?
५ वद की पृथ्वी क प्रति क्या भावना हे ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *सत्य बृहदृतमुग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवी धारयन्ति ।* अथर्ववेद

अर्थ मत्य बृहत्, उग्र दीक्षा तप ब्रह्म तथा यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं।

इसी पृथ्वी-सूक्त की कुछ अन्य पक्तिया स्मरणीय है ।

२ *गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्य ते पृथिवी स्योनमस्तु ।* अथर्ववेद

अर्थ हे पृथ्वी ! तुम्हारे हिमवान् गिरिपर्वत तथा वन सुखदायी हों।

३ *यस्या वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहो ।* अथर्ववेद

अर्थ जिम पृथ्वी पर सदा स्थिर वृक्ष वनस्पतिया चारों ओर खडी हैं।

४ *पद्भ्या दक्षिणसव्याभ्या मा व्यथिष्महि भूम्याम् ।* अथर्ववेद

अर्थ हम अपने दायें बायें पाँव से पृथ्वी को व्यथित न करें।

५ यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्र तदपि रोहतु ।

मा ते मर्मविमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ अथर्ववेद

अर्थ हे भूमि ! जो भाग मैं तुम्हारा खोदूँ, वह पुन शीघ्र भर जाए। हे इच्छाओं को पूरा करने वाली ! मैं तुम्हारे हृदय को चोट न पहुँचाऊँ।

नवम पाठ
ज्योतिपर्व दीपावली

भारतीय सस्कृति में व्यष्टि तथा समष्टि की साधना का अद्‌भुत समन्वय है। व्यष्टि के स्तर पर परमपुरुषार्थ मोक्ष की साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता जिन्हें प्रस्थानत्रयी की सज्ञा दी गयी तथा जिन पर भाष्य लिखकर सभी वेदान्ताचार्यों ने अपनी अपनी मान्यता को तदनुकूल प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर समष्टि के स्तर पर धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए चार पर्वों के आयोजन का विधान किया गया है, जिन्हें प्रतिवर्ष आबालवृद्ध सभी न्यूनाधिक रूप में मनाते हैं। अधर्म पर धर्म की विजय का डका बजता है विजयदशमी के दिन नवरात्र में शक्ति की उपासना के अनन्तर शस्त्र पूजा द्वारा तथा राक्षसी वृत्ति के प्रतीक अधर्मावतार रावण के दहन के माध्यम से। यह धर्म पुरुषार्थ की सामूहिक उपासना ही तो है जिसमें आबाल वृद्ध पढे अनपढे सभी शामिल होते हैं और धर्म की इस विजय से ही प्रादुर्भूत होती है लक्ष्मी अर्थात् अर्थ पुरुषार्थ की कृतकृत्यता। सामान्यत लक्ष्मी मदान्धता उत्पन्न करती है और इसलिए लक्ष्मी की भरपेट निन्दा भी शास्त्रों में है किन्तु दीपावली के दिन हम मदान्ध बनाने वाली लक्ष्मी की नहीं बल्कि ज्ञान ज्योति समन्विता लक्ष्मी की उपासना करते हैं दीपकों की पक्तियाँ प्रज्वलित कर अन्यथा उलूकवाहिनी के लिये तो जले हुए दीपक को बुझाने का विधान रहता दीपक जलाने की बात न की गयी होती। दीपावली का यह अर्थ पुरुषार्थ ही साधन बनता है कामनाओं की पूर्तिरूप उस काम पुरुषार्थ का जो होली पर फसल के पकने पर सस्येष्टि रूप में प्रकट होता है सब को रस रग में डुबोते हुए। इस काम पुरुषार्थ के आनन्द में जब खरे खोटे की पहचान करने पर असत्य की होलिका जल जाती है और सत्य का प्रह्लाद शेष रह जाता है तो प्रादुर्भाव होता है—चरम पुरुषार्थ मोक्ष का जिसका प्रतीक है रक्षा बधन पर्व जिसमें नये यज्ञोपवीत को धारण करके हम पितृऋण देवऋण तथा ऋषिऋण के तीन ऋणों से मुक्त होने के सकल्प को प्रतिवर्ष दोहराते हैं। इस प्रकार इस विराट देश का सम्पूर्ण जनमानस वर्ष प्रतिवर्ष पुरुषार्थों को साधता चला आ रहा है—धर्म को विजयदशमी के पर्व पर अर्थ को दीपावली के पर्व पर काम को होली के पर्व पर तथा मोक्ष को रक्षाबधन के पर्व पर एक उल्लासमयी प्रक्रिया द्वारा सहज सरल रूप में । रावण का पुतला जलाया तो धर्म की स्थापना करने का उद्देश्य उजागर हुआ ज्ञान दीप जले तो लक्ष्मी का आह्वान हुआ रग में डूबे तो काम पुरुषार्थ का स्मरण किया और यज्ञोपवीत बदला तो त्याग को याद किया समस्त यज्ञ त्याग ही तो है इसीलिए तो हर मत्र के बाद आहुति देते समय यह मेरा नहीं इदन्न मम दोहराया जाता है और त्याग ही तो मोक्ष का साधन है–त्यागनैकेनामृतत्वमानशु। कितनी छोटी क्रियाओं के पीछे कितना महान् रहस्य भर दिया है भारतीय मनीषा ने और उस रहस्य को कितनी गहराई से पकडा है भारतीय जनमानस ने कि हजार आधुनिकीकरण हो जाने पर भी जब दीपावली आती है तो बिना किसी सरकारी आदेश के छोटे से छोटे गाव के गरीब से गरीब की

कुटिया पर एक न एक दीपक अमावस्या के गहन अंधेरे को चीरकर टिमटिमा ही उठता है उसी प्रकार जिस प्रकार आज से हजार वर्ष पूर्व टिमटिमाता था।

उपास्या देवी श्री है, लक्ष्मी नही

कहा जा चुका है कि दीपावली उलूकवाहिनी का पर्व नही ज्योतिप्रिया श्री की उपासना का पर्व है। लक्ष्मी बहुत स्थूल है लक्ष्मी का शब्दार्थ है-लक्ष्म वाली अर्थात् जिसकी पहचान बहुत सीधी सादी है। सोने का ढेर हो या विशाल अट्टालिका तुरन्त पहचानने में आ जाते हैं,क्योंकि यह लक्ष्मी है पहचानने में आसान है। श्री की पहचान सूक्ष्म दृष्टि वाला ही कर सकता है,क्योंकि वह लक्ष्मी की तरह प्रत्यक्ष नहीं बल्कि परोक्ष है। श्री तिजोरियों में बद नही रहती व्यक्ति के मुख पर मुखरित हो उठती है जिसे देखकर ही हम जान लेते हैं कि यह व्यक्ति कोई साधारण पुरुष नहीं है बल्कि विशिष्ट है। यही तो वह श्रीमत्ता है जिसके कारण हम किसी व्यक्ति को श्रीमान् कहते हैं। लक्ष्मी मूर्ति है श्री विभूति है। लक्ष्मी मूर्त है, श्री अमूर्त है। लक्ष्मी का सरस्वती से विरोध है किन्तु श्री तो महालक्ष्मी बनकर महासरस्वती की नित्यसङ्गिनी है।

पूरे भारत में घूम आइये दीपावली के दिन पद्मासना महालक्ष्मी का चित्र ही आपको मिलेगा उलूकवाहिनी लक्ष्मी का चित्र ढूंढने पर भी आप नहीं खोज पाएँगे। हम दैवी सम्पदा के उपासक हैं आसुरी सम्पदा के नहीं।

समुद्रमन्थन एक प्रतीक कथा

भगवान् व्यास ने कहा कि वेद का रहस्य इतिहास पुराण से समझना चाहिए। वस्तुत इसका उल्टा भी उतना ही सही है—पुराणों का रहस्य वेद के माध्यम से समझना चाहिए। पुराणों में एक कथा है जिसके अनुसार एक कछुवे की पीठ पर मन्दराचल पर्वत को रखकर नाग की रस्सी से समुद्र मन्थन किया तो लक्ष्मी प्रकट हुई। यह समुद्रमन्थन देवासुरों ने मिलकर किया था। किसी खुली जगह खडे होने पर यदि क्षितिज को चारों ओर से देखें तो एक कछुवे का आकार दिखायी देगा। पृथ्वी सपाट है मानों कछुवे का अधोभाग है और आकाश गोलाकार मानों कछुवे की पीठ हो। शतपथ नामक ब्राह्मण ग्रथ में इसी को प्रजापति का कूर्मावतार कहा गया है। इसी कूर्म अथवा कछुवे की पीठ पर क्रान्तिवृत्त से अवच्छिन्न सूर्य का वह प्रकाशस्तम्भ है,जिसे मन्दराचल पर्वत बताया गया है। नाग नाम एक प्राणवायु का है जिसको पुराणों ने एक रस्सी बताया है। वह प्राणवायु जो क्रियाशक्ति का प्रतीक है जब आदित्य के प्रकाश स्तम्भ को जो ज्ञानशक्ति का प्रतीक है लपेट कर मथन करती है तो लक्ष्मी का अर्थात् अर्थशक्ति का जन्म होता है। सूत्ररूप में लक्ष्मी को उत्पन्न करना हो तो न केवल कर्म पर्याप्त है न केवल ज्ञान अपितु ज्ञान और कर्म के समन्वय से लक्ष्मी उत्पन्न होती है। रज प्रधान मथन क्रिया में केवल सत्वप्रधान देव ही नहीं तम प्रधान असुर भी भागीदार होते हैं। अभिप्राय यह है कि सृष्टि त्रिगुणात्मिका है केवल किसी एक गुण से कोई कार्य सम्पन्न नहीं होगा। इसीलिए जिस प्रकार ब्रह्मा विष्णु महेश त्रिदेव हैं उसी प्रकार तीन देवियों में महाकाली "परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या जो अव्यक्त ही रहती है महासरस्वती सर्वजगता परमार्तिहन्त्री सबका दुख दूर

करने वाली व्यक्ताव्यक्त है तथा महालक्ष्मी "परिपालय देवि विश्वम् सबका पालन करने वाली व्यक्तरूप है।

इनमें अव्यक्त महाकाली तो सर्वात्मिका है महासरस्वती शब्दात्मिका तथा महालक्ष्मी अर्थात्मिका। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध तो प्रत्यक्षगोचर ही है बिना शब्द के अर्थ अथवा बिना अर्थ के शब्द के अस्तित्व का कोई प्रयोजन ही नहीं। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध ही महासरस्वती तथा महालक्ष्मी का वह सम्बन्ध है जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र को श्रीसम्पन्न बनाता है। इसीलिए ऋग्वेद ने स्पष्ट रूप में वाणी में ही लक्ष्मी का निवास माना है-भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। जहाँ वाणी का सम्बन्ध लक्ष्मी से है वहाँ सरस्वती का सम्बन्ध प्राण से तथा काली का सम्बन्ध मन से है। ये मन प्राण और वाक् मिलकर ही आत्मा नाम से अभिहित होते हैं।

लक्ष्मी कहाँ नही जाती

दीपावली पर महालक्ष्मी का आह्वान किया जाता है,किन्तु महालक्ष्मी प्रत्येक स्थान पर नहीं जाती। ब्रह्मवैवर्तपुराण में स्वय लक्ष्मी ने उन स्थानों का उल्लेख किया जहाँ वह नहीं जाती। दीपावली पर हम विचार करेंगे कि कहीं हमारा घर परिवार भी ऐसा तो नहीं बन चुका जहाँ लक्ष्मी आ ही न सके। लक्ष्मी वहाँ नहीं जाती जहाँ आचार्य माता पिता तथा अतिथि का अपमान होता हो। जहाँ मिथ्याभाषण वासना दीनता,आलस्य विश्वासघात तथा कृतघ्नता के दुर्गुण रहते हैं वहाँ लक्ष्मी नहीं जाती। चिन्ता भय क्रोध सुरापान ऋणग्रस्तता तथा कृपणता से लक्ष्मी को चिढ है। जहाँ स्त्रियाँ मर्यादा का उल्लघन करें मनुष्य उद्विग्न रहें नास्तिकता का साम्राज्य हो लोभ और हिंसा हो दान देकर वापिस लेने की भावना हो आश्रितों को सहारा न दिया जाता हो अश्लीलता का सेवन हो मलिनता तथा अस्तव्यस्तता हो वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती।

मलिनता पेटूपन कठोर भाषण तथा आलस्य से लक्ष्मी को इतनी चिढ है कि यदि चक्रपाणि विष्णु में भी ये दोष हों तो लक्ष्मी उन्हें भी छोड देती है। महाभारत में भी भीष्मपितामह ने इसी प्रकार का प्रसङ्ग उठाकर यह बताया कि कर्तव्य पराङ्मुख नास्तिक अशुद्ध कृतघ्न आचारहीन क्रूर चोर तथा ईर्ष्यालु पुरुषों के पास लक्ष्मी नहीं जाती। एक विशेष बात महाभारत में यह कही गयी कि व्यक्ति को कभी भी थोडे में सतुष्ट होकर नहीं बैठना चाहिए। जिस घर में बरतन भाडे बिखरे रहते हैं परस्पर कलह होता रहता है अधिक चकचक होती रहती है ऐसे घरों में लक्ष्मी नहीं रहती।

लक्ष्मी का निवास कहा

स्कन्दपुराण तथा महाभारत में लक्ष्मी के निवास करने की भी शर्तें विस्तार से दी गयी है। जो घर साफ सुथरे हैं जहाँ गृहिणी कुशल है जहाँ का कोठियार साफ सुथरा है सब मीठी वाणी बोलते हैं सदस्य मितभाषी है विद्या तथा विनय है वहाँ लक्ष्मी का वास है। जहाँ लोग बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार का शौच रखते हैं जहाँ निरन्तर प्रसन्नता बनी रहती है उत्सव होते रहते हैं वही लक्ष्मी का वास है। महाभारत में लक्ष्मी के निवास की अनेक शर्तें दी गयी हैं—सत्य प्रियदर्शन सुन्दरता पुरुषार्थ विनय श्रद्धा तथा स्वाध्याय। लक्ष्मीपूजन की विधि है उस विधि से पूजन होना चाहिए

किन्तु साथ ही साथ हमें यह भी नही भूलना चाहिए कि क्या हमने अपने घर में वे शर्तें पूरी की हैं, जिनका होना लक्ष्मी के निवास करने के लिए आवश्यक है अन्यथा सब पूजा पाठ बेकार हो जाएगा।

आत्मज्योति परमज्योति

दीपावली लक्ष्मी की उपासना का पर्व है हो ज्योतिपर्व भी है। महाराज जनक ने पूछा कि ज्योति क्या है। इसका याज्ञवल्क्य ने जो उत्तर दिया वह कोई गूढ दार्शनिक रहस्य न होकर अत्यन्त व्यावहारिक उत्तर था सूर्य ज्योति है। प्रश्न हुआ सूर्यास्त होने पर ज्योति कौन होगा उत्तर था अग्नि। ध्यान रहे दीपावली की रात्रि ऐसी ही होती है अमावस्या की कृष्ण रात्रि। तब ज्योति अग्नि बनती है दीपमाला के रूप में। किन्तु दीपक भी बुझ जाये तो क्या ज्ञान के सब साधन समाप्त हो जाएगे उत्तर है—कि अग्नि भी न रह तो वाणी ज्योति बनती है। किसी मूक व्यक्ति की वाणी भी खो जाये तो क्या कोई ज्योति न रहेगी ? उत्तर है कि मूक व्यक्ति भी ज्ञानरहित नही होगा उसकी ज्योति होगी आत्मा। यह आत्मा ज्योतियों की ज्योति है इसका अभाव हो जाए तो मानव की सत्ता ही समाप्त हो जाए। इसीलिए बुद्ध ने अपने शिष्यों के यह पूछने पर कि ससार में बुद्ध के न रहने पर उनका मार्गदर्शन कौन करेगा उत्तर दिया था कि अपने दीपक स्वय बनो—अप्पदीपा भव। याज्ञवल्क्य ने जिन पॉच ज्योतियों का वर्णन किया है,उनमें सूर्य चन्द्र तथा अग्नि भूत ज्योति है। आत्मज्योति ज्ञानरूप है वाङ्ज्योति कर्मरूप है। सूर्य चन्द्र अग्नि में भी सूर्य स्वज्योति चन्द्र पर ज्योति एव अग्नि रूप ज्योति है। भूतज्योति लक्ष्मी के लिये भले ही पर्याप्त हो किन्तु श्री के लिए आत्मज्योति एव वाक्ज्योति भी आवश्यक है।

आज इस देश में दीपावली होती है किन्तु लक्ष्मी मानो पश्चिम के विकसित देशों में पलायन कर गयी है। हमारे आर्थिक सकट का कोई आर छोर ही नजर नहीं आता। निश्चय ही हमारे लक्ष्मी पूजन में कहीं कोई भूल रह गयी है। अर्थशास्त्री इस अर्थसकट के अनेकानेक कारण तथा समाधान ढूढ रहे हैं किन्तु इस लक्ष्मी पलायन के जो शास्त्रोक्त कारण हैं उन पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार देवों से भी एक बार लक्ष्मी रूठ गई थी। कारण था ब्रह्मशक्ति का अपमान। महर्षि दुर्वासा ने एक माला इन्द्र को दी। इन्द्र ने मदमत्त होकर वह माला ऐरावत के सम्मुख फेंक दी। ऐरावत ने माला कुचल डाली। दुर्वासा ने इसे अपना अपमान समझा शाप दे दिया और लक्ष्मी भाग गयी। फिर समुद्र मथन से ही दुबारा उस लक्ष्मी को इन्द्र प्राप्त कर पाया। आवश्यकता है कि ज्ञानशक्ति की उपेक्षा न की जाये अन्यथा लक्ष्मी रूठ जायेगी।

पर्यावरण रक्षा

लक्ष्मी के पलायन का एक दूसरा भी कारण है—लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। विष्णु यज्ञ का नाम है। जहाँ विष्णु का अपमान होता है वहा लक्ष्मी नहीं टिक सकती। यज्ञ अर्थात् विष्णु की उपासना वहाँ होती है,जहाँ कृष्णमृग स्वभावत विचरण करता हो वही यज्ञभूमि है शेष म्लेच्छ देश हैं। कृष्णमृग के विचरण का अर्थ है प्रकृति का सन्तुलन। जहाँ अन्धाधुन्ध जगल कट रहे हो नदियों को गन्दगी से भरा जा रहा हो वहाँ कृष्णमृग कहा ? जहाँ कृष्णमृग नही वहां यज्ञ नही जहाँ यज्ञ नहीं वहाँ विष्णु नहीं और जहाँ विष्णु नही वहाँ लक्ष्मी कैसे आएगी ? कृष्णमृग प्रतीक है वन्य सम्पदा का

तो गौ प्रतीक है पालतू पशुधन का। लक्ष्मी पूजन के अगले दिन गोबरधन की पूजा होती है और फिर आती है यमद्वितीया जिस दिन यमुना के पूजन के द्वारा हम अपनी नदियों को सभालते हैं। गोपाष्टमी को गौ बछडे के पूजन के अनन्तर ही देव उठ पाते हैं देवोत्थापनी एकादशी को। विकास की दौड में औद्योगिकीकरण ने प्रकृति का सन्तुलन बिगाडना शुरू किया तो न यमुना प्रजा के योग्य रही न गोधन की रक्षा हो पायी और यमद्वितीया तथा गोपाष्टमी केवल एक रस्म अदायगी भर रह गयी। फिर सोये देव उठें तो कैसे ? हम अपने पर्यावरण के प्रति जागरूक हों तो हमारा सोया भाग्य जाग सकता है।

सर्वव्यापिनी लक्ष्मी

यह तो चर्चा हुई लक्ष्मी के उस रूप की जिससे हम सब परिचित हैं,किन्तु लक्ष्मी का एक सर्वव्यापक ऐसा रूप भी है जिससे हम सब परिचित नहीं हैं। गायत्री मन्त्रों के कारण हम तीन पदों से परिचित है भू, भुव स्व। जो व्यक्ति सन्ध्या करता है,वह सात लोकों से भी अवश्य परिचित होगा—भू भुव स्व, मह, जन तप सत्यम्। इन सप्तलोकों की तीन त्रिलोकी बनती है। भू भुव स्व की प्रथम त्रिलोकी है जिसका नाम रोदसी है तथा इस त्रिलोकी का समुद्र अर्णव कहलाता है। स्व मह, जन की दूसरी त्रिलोकी क्रन्दसी कहलाती है तथा इसका समुद्र सरस्वान् कहलाता है। जन, तप, सत्यम् की तीसरी त्रिलोकी सयती कहलाती है तथा उसका समुद्र नभस्वान् कहलाता है। इन तीनों ही समुद्रों के मथन से लक्ष्मी के तीन रूप प्रकट होते हैं। अर्णव के मथन से सूर्यलक्ष्मी सरस्वान् के मथन से परमेष्ठिलक्ष्मी तथा नभस्वान् के माध्यम से स्वयम्भूलक्ष्मी प्रकट होती है। सूर्यलक्ष्मी का प्रसिद्ध नाम महालक्ष्मी परमेष्ठि-लक्ष्मी का महासरस्वती तथा स्वयम्भू लक्ष्मी का महाकाली है। इस प्रकार लक्ष्मी भी विष्णु के समान सर्वव्यापक बनी हुई है।

तीनों समुद्रों में लक्ष्मी कमल पर आसीन है। कमल का एक नाम पुष्कर भी है। पुष्कर का अर्थ है जो पुर को करता है। पुर का अर्थ है सीमबद्ध। असीम का ससीम हो जाना ही सृष्टि की प्रक्रिया है। इस सृष्टि प्रक्रिया का प्रतीक है पुष्कर अर्थात् कमल जिस पर स्रष्टा ब्रह्मा विराजमान है। इसी कमल पर लक्ष्मी भी सुशोभित है। इसीलिए कमल का ही दूसरा नाम श्रीपर्ण भी है तथा लक्ष्मी का दूसरा नाम कमला है। यह कमला जिस आप तत्त्व पर स्थित है वह आप तेज और स्नेह का समन्वित रूप है। तेज का प्रतिनिधि अङ्गिरा है स्नेह का प्रतिनिधि भृगु है।

अङ्गिराधारा सरस्वती है तथा भृगुधारा लक्ष्मी है। इसी भृगु ने विष्णु पर पाद प्रहार किया था जिसे लेकर रहीम ने सीधा सा दिखने वाला एक दोहा बना दिया—

छमा बडन को चाहिये छोटन को उत्पात।
का रहीम प्रभु को घटयौ जो भृगु मारी लात॥

इस बार जब दीपावली पर कूडा करकट साफ करें तो अल्पज्ञता के मल को भी दूर करने का सकल्प लें क्योंकि वेद की तो स्पष्ट घोषणा है कि छाज से सतू की भाति जो धीरपुरुष छाट छाट कर मनोयोगपूर्वक ज्ञान का सञ्चय करता है लक्ष्मी उन्हीं धीरपुरुषों की वाणी में निवास करती है।

प्रश्न

१ चार पुरुषार्थों का हमारे पर्वों से क्या सम्बन्ध है ?
२ श्री तथा लक्ष्मी में क्या अन्तर है ?
३ लक्ष्मी तथा सरस्वती का क्या सम्बन्ध है ?
४ लक्ष्मी कहाँ नहीं जाती ?
५ लक्ष्मी कहाँ निवास करती है ?
६ ज्योति का क्या महत्त्व है ?
७ समुद्रमन्थन से लक्ष्मी के उत्पन्न होने का क्या अर्थ है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनाद प्रमोदिनीम् ।*

श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥ - ऋग्वेद

अर्थ पहले घोड़े वाली तथा मध्य में रथ वाली हाथियों के नाद को सुनकर प्रसन्न होने वाली मैं श्री देवी का आह्वान करता हूँ। श्री मेरे यहाँ निवास करे।

२ *क्षुत्पिपासामलाज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।*

अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ॥ - ऋग्वेद

अर्थ मैं भूख प्यास से मलिन ज्येष्ठ दरिद्रता का नाश करता हूँ। असम्पत्ति तथा असमृद्धि को मेरे घर से दूर करो।

दशम पाठ

त्रयी विद्या

हमने पहले तीन पाठों में क्रमश: शरीर प्राण और मन की चर्चा की है । जब हम "मैं" शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय इन तीनों से ही होता है । उदाहरणत जब हम कहते हैं "मैं पतला हू", "मैं मोटा हू" तो यहा "मैं" शब्द से शरीर का बोध होता है । जब हम कहते हैं—"मैं थक गया", "मैंने हिम्मत की" तो यहा "मैं" से प्राणशक्ति का बोध होता है । जब हम कहते है "मैं समझ गया", "मैं जानता हू" तो यहा "मैं" शब्द से मन का बोध होता है । उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि हम शरीर प्राण और मन तीनों को ही "मैं" समझते है । वेद का कहना है कि ये तीनों ही आत्मा हैं । यदि हमें पूरे मनुष्य को समझना हो तो इन तीनों का समझना पडेगा ।

क्योंकि हमारे ज्ञान के तीन विषय बनते हैं, शरीर प्राण और मन, इसलिये वेद विद्या को त्रयी विद्या कहा जाता है । वैसे वेद चार हैं किन्तु उनमें अथर्ववेद अलग कोटि में आता है । शेष तीन वेद—ऋक् यजु और साम—ही त्रयी कहलाते हैं । हमने पहले पाठ में अन्न की चर्चा करते समय तीन लोकों की चर्चा की है । इन तीन लोकों को भूर्भुव स्व अथवा पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक कहा जाता है । इनमें पृथिवी का सम्बन्ध ऋग्वेद से है अन्तरिक्ष का सम्बन्ध यजुर्वेद से है और सामवेद का सम्बन्ध द्युलोक से है । हमने पहले पाठ में यह चर्चा की है कि पृथिवी का देवता अग्नि है अन्तरिक्ष का देवता वायु है और द्युलोक का देवता सूर्य है । इसलिए हम यह भी कह सकते है कि ऋग्वेद का सम्बन्ध अग्नि से है यजुर्वेद का सम्बन्ध वायु से है और सामवेद का सम्बन्ध आदित्य से है । जिन शरीर प्राण और मन की चर्चा हमने पहले तीन पाठों में की है इनमें शरीर का सम्बन्ध अग्नि से प्राण का वायु से और मन का सम्बन्ध आदित्य से है । यह सब त्रयी विद्या का ही विस्तार है । हमने दूसरे पाठ में प्राण अपान और व्यान की चर्चा की है । इनमें प्राण का सम्बन्ध इस लोक से अपान का अन्तरिक्ष लोक से और व्यान का द्युलोक से है । निम्न तालिका में किस वेद का किस से सम्बन्ध है—यह सक्षेप में दिया गया है—

वेद	सम्बद्ध देवता	सम्बद्ध लोक	सम्बद्ध प्राण
ऋग्वेद	अग्नि	पृथिवी	प्राण
यजुर्वेद	वायु	अन्तरिक्ष	अपान
सामवेद	आदित्य	द्युलोक	व्यान[1]

इनमें देवताओं को अधिदेव लोकों को अधिभूत और प्राण को अध्यात्म कहा जाता है । इन तीनों का वद से सम्बन्ध बतलाने का अभिप्राय यह है कि वेद पूरे अस्तित्व से जुडे हैं क्योंकि अस्तित्व को तीन ही भागों में बाटा जा सकता है—अध्यात्म अर्थात् जिसका सम्बन्ध हमारे आन्तरिक जगत्

से है अधिभूत जिसका सम्बन्ध बाह्य स्थूल जगत् से है तथा अधिदेव जिसका सम्बन्ध सूक्ष्म अथवा प्राण जगत् से है । त्रयी विद्या को समझने समझाने का यह एक तरीका है ।

त्रयी विद्या को समझने का एक दूसरा तरीका यह है कि हम किसी भी पिण्ड को लें तो उसमें तीन पक्ष दिखाई देंगे—पदार्थ पदार्थ में रहने वाली क्रिया तथा पदार्थ में रहने वाला तेज अथवा ज्ञान । इनमें पदार्थ का सम्बन्ध ऋग्वेद से है क्रिया का सम्बन्ध यजुर्वेद से है तथा तेज अथवा ज्ञान का सम्बन्ध सामवेद से है । इस प्रकार त्रयी विद्या में किसी भी पदार्थ के सम्पूर्ण पक्ष समाहित हैं । पहले तीन पाठों में जिन शरीर प्राण और मन का क्रमश वर्णन किया है उसमें यदि हम शरीर को पिण्ड अथवा पदार्थ मानें तो उसका सम्बन्ध ऋग्वेद से होगा । इसी प्रकार प्राण, जो सब क्रियाओं का हेतु है यजुर्वेद से जुड जायगा तथा साम मन अथवा ज्ञान से जुडेगा । यह ऋक् यजु साम का व्यक्ति से सम्बन्ध हुआ । समाज में देखें तो पदार्थ अथवा वस्तुओं का सम्बन्ध वैश्य से है । इसलिए वैश्य का सम्बन्ध ऋग्वेद से होगा । गति अथवा शूरवीरता के कारण क्षत्रिय का सम्बन्ध यजुर्वेद से होगा तथा ज्ञान के कारण ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से होगा । इस सम्बन्ध को निम्न तालिका से समझा जा सकता है

वेद	पिण्ड	व्यक्ति	समाज
ऋक्	पदार्थ	शरीर	वैश्य
यजु	गति	प्राण	क्षत्रिय
साम	तेज[२]	मन	ब्राह्मण[३]

ऊपर दी गई पहली तालिका और इस दूसरी तालिका से तुम यह कल्पना कर सकते हो कि त्रयी विद्या से बहिर्भूत कोई भी विषय नहीं है । इसलिए मनु ने कहा है कि सब कुछ वेद से जाना जा सकता है । ऊपर दी गई दो तालिकाओं में भी परस्पर गहरा सम्बन्ध है । उदाहरणत जिस शक्ति से पदार्थ का निर्माण होता है उस शक्ति का नाम अग्नि है । ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमें अग्नि की उपस्थिति न हो । इसलिए अग्नि का एक दूसरा नाम जातवेदा भी है । ससार में जिस शक्ति के बल पर गति हो रही है उसे वायु देवता कहा जाता है । यह वायु भी एक प्राण है जो अत्यन्त सूक्ष्म है । पदार्थ का जो आभामण्डल अथवा तेजोमण्डल बनता है वह आदित्य प्राण के कारण बनता है । यह आदित्य प्राण ही हममें जानने की क्षमता उत्पन्न करता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन वेद तथा उन तीन वेदों से सम्बद्ध तीन देवता सर्वव्यापक हैं । इसलिए वेद का एक दूसरा नाम ब्रह्म भी है और इसी आधार पर वेद पढने वाले विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहा जाता है ।

इस प्रश्न पर भी विचार करना चाहिये कि लोक देवता वेद में सब तीन तीन ही क्यों हैं ? इसका उत्तर यजुर्वेद में दिया गया है । पदार्थ की तीन अवस्था होती हैं—ध्रुव धर्त्र और धरुण ।[४] सरल भाषा में इन तीन अवस्थाओं को घन तरल और विरल कह सकते हैं । और भी सरल रूप में कहें तो इन्हीं तीन अवस्थाओं को स्थूल सूक्ष्म और सूक्ष्मतर कह सकते हैं । त्रयी विद्या का मूल यह है कि एक ही पदार्थ स्थूल होने पर एक रूप में होता है । वही सूक्ष्म होने पर दूसरा रूप धारण कर लेता है तथा और भी सूक्ष्म होने पर तीसरा रूप धारण कर लेता है । उदाहरणत अन्न हमारे शरीर में जाकर स्थूल रूप में शरीर बनता है सूक्ष्म रूप में प्राण बनता है तथा और भी सूक्ष्म रूप में मन बन

जाता है । इस प्रकार तत्त्व एक ही हुआ—अन्न किन्तु उसके रूप तीन हो गये शरीर प्राण और मन इन तीनों में मूलत भेद न होन पर भी तीनों के गुण धर्म स्वभाव अलग अलग हैं इसलिए तीनों के नाम भी अलग है । यही अनेकता में एकता है जो हमारी सस्कृति की विशेषता है ।

इस घनता और तरलता के तारतम्य के आधार पर त्रयी विद्या के समानान्तर अनेक त्रिक बन जाते हैं । अग्नि प्राण ही सूक्ष्म होकर वायु प्राण हो जाता है वायु प्राण ही और अधिक सूक्ष्म होकर आदित्य प्राण हो जाता है । ऊपर जिन त्रिकों की हमने चर्चा की है उन सबमें यही क्रम समझना चाहिये । वस्तुत इस सृष्टि की विविधता को समझने में यह सूत्र बहुत सहायक होता है कि मूल में एक ही वस्तु स्थूल सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर होने के कारण अनेक रूप धारण कर लेती है । उदाहरणत गीता में पुरुष के क्षर अक्षर और अव्यय इन तीन रूपों का उल्लेख है । इनमें क्षर को भूत कहा है । अक्षर इससे सूक्ष्म है । यह प्राण रूप में है । अव्यय इससे भी अधिक सूक्ष्म है । यह मन रूप है । इन तीनों का सम्बन्ध सृष्टि की प्रक्रिया से है । सृष्टि एक कार्य है । किसी भी कार्य के लिए तीन शर्तें पूरी होनी चाहिये । १ उस कार्य क लिए एक ऐसा आलम्बन या आधार चाहिये जिस आलम्बन या आधार पर वह कार्य किया जा सके । २ दूसरे वह सामग्री चाहिये जिस सामग्री से उस कार्य का निर्माण किया जाय । ३ तीसरे उस सामग्री से उस कार्य को निर्माण करने वाला होना चाहिये । घडा बनाने का उदाहरण लें तो आलम्बन चाक है जिस पर घडा बनता है सामग्री मिट्टी और पानी है जिससे घडा बनाया जाता है और घडा को बनाने वाली क्रिया का कर्त्ता कुम्हार है । इन तीनों में कोई एक भी न हो तो घडा नही बन सकता । इसी प्रकार इस सृष्टि के बनने का जो आलम्बन है,उसे अव्यय पुरुष कहा जाता है । वह सामग्री जिससे यह सृष्टि बनी क्षर पुरुष कहलाती है और इस क्षर पुरुष की सामग्री से सृष्टि को बनाने वाला अक्षर पुरुष कहलाता है । कहने के लिए तो ये तीन नाम हो गये तीनों के काम भी अलग अलग हैं लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो अपने सूक्ष्म रूप में जो अव्यय है वही थोडा स्थूल होने पर अक्षर और अधिक स्थूल होने पर क्षर बन गया । अर्थात् एक ही ब्रह्म ने सृष्टि बनाने के लिए अपने तीन रूप बना लिये ।

पुराणों में भी तीन देवों की चर्चा है—ब्रह्मा विष्णु महेश । इनमें ब्रह्मा रजोगुण प्रधान रूप है विष्णु सत्त्व गुण प्रधान है और शिव तमोगुण प्रधान है । तमोगुण सबसे स्थूल है रजोगुण उससे सूक्ष्म है और सत्त्व गुण सबसे सूक्ष्म है । रजोगुण प्रधान ब्रह्मा सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं सत्वगुण प्रधान विष्णु पालन करते हैं तमोगुण प्रधान शिव सृष्टि का सहार करते हैं । इस प्रकार अपने अपने कार्य की अपेक्षा ये तीनों देव अलग अलग हैं किन्तु मूलत ये तीनों एक ही है । मूलत एक पदार्थ भी भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न गुणों वाला हो जाता है । उदाहरणत जल को लें । जल अपने ठोस रूप में बर्फ बनता है । यदि हम बर्फ के एक टुकडे को लेकर किसी के सिर पर मारें तो उसके सिर से खून निकलने लगेगा । यहा बर्फ ने शस्त्र का काम किया । किन्तु यदि वही बर्फ पिघलकर पानी बन जाये तो उस पानी से बहते हुए खून को रोकने में सहायता मिलती है । यहा पानी ने औषधि का काम किया जो कि बर्फ के द्वारा किये गये काम से बिल्कुल विपरीत है । यही पानी यदि भाप का रूप ले ले तो इतना ताकतवर हो जाता है कि सैकडों टन बोझ वाली मालगाडी को खींच सकता है । यह ताकत बर्फ या पानी में नहीं है । इस उदाहरण से स्पष्ट है कि एक ही शक्ति नाना रूप में नाना कर्म करती है । हमें जो कर्म करना अभीष्ट हो उस शक्ति से उसी रूप की उपासना

करनी पडेगी । मान लीजिए आपको विद्या चाहिये तो सरस्वती की उपासना करेंगे । यदि आपको धन चाहिये तो लक्ष्मी की उपासना करेंगे किन्तु इसका यह अर्थ बिल्कुल नही है कि सरस्वती और लक्ष्मी मूलत दो भिन्न शक्तिया है । ये एक ही शक्ति के ये दो रूप हैं । विश्व में जितने भी उपास्य देव हैं,वे सब एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न रूप है । अपनी अपनी रुचि के अनुसार आप किसी भी देव की उपासना कर सकते हैं । किन्तु क्योंकि मूलत सभी देव एक ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ है[5] इसलिए किसी अन्य के उपास्य देव के प्रति निन्दा या घृणा का भाव रखना एक प्रकार से अपने ही उपास्य देव के एक रूप के प्रति घृणा या निन्दा का भाव रखना माना जायेगा । ऐसी स्थिति में वेद का अनुयायी भला किसी भी पथ या उपासना पद्धति के प्रति घृणा का भाव कैसे रख सकता है ? उसकी दृष्टि में जो किसी भी देव की किसी भी रूप में उपासना कर रहा है वह उसके उपास्य देव के ही एक रूप की उपासना कर रहा है । इसलिए कहा जाता है सर्वदेवनमस्कार केशव प्रति गच्छति ।

प्रश्न

१ "मैं" शब्द का किन तीन अर्थों में प्रयोग होता है ?
२ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से कौन-कौनसे देवता लोक और प्राण जुड़े है ?
३ ऋक्, यजु और साम को त्रयी कहा जाता है । उसके आधार पर तीन ही लोक और तीन ही देवता होते हैं, ऐसा क्यों ?
४ गीता में बताये हुए तीन पुरुष कौनसे है ? उनका क्या स्वरूप है ?
५ सब देवता अलग-अलग हैं फिर भी वे सब मूलत एक ही कैसे हैं ?
६ प्रस्तुत पाठ में अनेकता में एकता कैसे सिद्ध की गई है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *स तपस्तप्त्वा प्राणादेव इम लोक अपानादन्तरिक्षलोक*
व्यानादमु लोक प्रावृहत् । सोऽग्निमेवास्माँल्लोकात्
वायुमन्तरिक्षलोकात् आदित्य दिव असृजत् । सोऽग्नेरेवर्च,
वायोर्यजूंषि आदित्यात् सामानि असृजत् । - शाङ्खायन ब्राह्मण

अर्थ प्रजापति ने तप करके प्राण से यह लोक अपान से अन्तरिक्ष लोक और व्यान से द्युलोक बनाया । उसने पृथिवी लोक से अग्नि अन्तरिक्ष लोक से वायु और द्युलोक से आदित्य उत्पन्न किया । उसने अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद तथा आदित्य से सामवेद बनाया ।

२ *ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्तिमाहु*
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्व तेज सामरूप्य ह शश्वत्
सर्व हेद ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥ **तैत्तिरीय ब्राह्मण**

अर्थ समस्त मूर्त पदार्थ ऋक् से उत्पन्न होते हैं । सारी गति यजु से उत्पन्न होती है । सारा तेज साम रूप है । तथा यह सब कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है ।

३ *ऋग्भ्यो जात वैश्यवर्णमाहु*
यजुर्वेद क्षत्रियस्याहुर्योनिम् ।
सामवेदो ब्राह्मणाना प्रसूति
पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचु ॥ **तैत्तिरीय ब्राह्मण**

अर्थ ऋक् से वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ । यजुर्वेद क्षत्रियों का जन्म स्थान है । सामवेद ब्राह्मणों की उत्पत्ति का स्थान है । प्राचीन लोगों ने प्राचीन लोगों को यह बताया था ।

४ *ध्रुवमसि धरुणमसि धर्त्रमसि ।* **यजुर्वेद**

अर्थ एक ही पदार्थ के तीन रूप होते है घन तरल और विरल ।

एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति **ऋग्वेद**

अर्थ ज्ञानी लोग एक ही सत्य को अनेक नामों से पुकारते हैं ।

एकादश पाठ

त्रिविध पुरुष

हमने पिछले पाठ में अव्यय अक्षर और क्षर इन तीन पुरुषों की चर्चा की है । इस पाठ में हम तीन पुरुषों की चर्चा को आगे बढ़ायेंगे[1] क्योंकि वेदों के अनुसार पुरुष से ही संसार उत्पन्न हुआ है। तुममें से बहुतों को पुरुष सूक्त याद भी होगा । एक पाठ में हम पुरुष सूक्त की व्याख्या करेंगे किन्तु उससे पहले इस पाठ में हम पुरुष का थोड़े विस्तार से वर्णन करना चाहते हैं । सृष्टि का मूल ब्रह्म है किन्तु ब्रह्म का जो रूप सृष्टि के निर्माण में सहायक होता है वही पुरुष कहलाता है । ब्रह्म के शेष रूप को हम परात्पर निर्गुण आदि नामों से जानते हैं । ब्रह्म ज्ञान रूप है किन्तु वह ज्ञान कर्म सहित है । स्पष्ट है कि विशुद्ध ज्ञान से कोई क्रिया नहीं हो सकती जब तक कि उसके साथ कर्म न जुड़े । एक कुम्हार को घड़ा बनाने का ज्ञान है । उसके ज्ञान के अनुसार वह घड़ा बनाने का कर्म भी कर सकता है । अन्तर केवल इतना है कि उसके घड़े बनाने का ज्ञान उसमें हमेशा बना रहता है किन्तु घड़े बनाने का कर्म वह हमेशा नहीं करता । जिस समय वह घड़े बनाने का कर्म नहीं करता उस समय भी उसके ज्ञान में घड़ा बनाने का कर्म रहता तो है किन्तु वह सोई हुई हालत में रहता है। ब्रह्म की भी यही स्थिति समझनी चाहिये । उसमें सृष्टि बनाने का ज्ञान तो सदा ही है किन्तु सृष्टि बनाने का कर्म वह सदा नहीं करता । जब उसमें यह सृष्टि बनाने का कर्म प्रसुप्त अवस्था में रहता है उसे हम प्रलय कहते हैं । जिस समय सृष्टि बनाने का कर्म जागृत हो जाता है उस समय सृष्टि बन जाती है ।

ब्रह्म में सृष्टि कर्म कब जागृत होता है कब सुप्त हो जाता है इसकी बहुत विस्तृत चर्चा है किन्तु हमें अभी मोटे तौर पर यह समझ लेना चाहिये कि जिस प्रकार हम एक काल विशेष तक जागने के बाद सो जाते हैं और काल विशेष तक सो जाने के बाद जाग जाते हैं उसी प्रकार स्रष्टा का भी सोना और जागना चलता रहता है ।[2]

जिसे हमने ऊपर परात्पर या निर्गुण ब्रह्म कहा है वह सृष्टि का सर्जन नहीं करता है । सृष्टि का सर्जन सगुण ब्रह्म ही करता है । निर्गुण असीम है सगुण ससीम है । सीमा का वेद में पुर नाम है । जो पुर में रहता है उसे पुरुष कहते हैं । यह पुरुष ही सगुण ब्रह्म है । इसे ही पुरुष कहते हैं । यही सृष्टि का स्रष्टा है । इस पुरुष के ही तीन रूपों की चर्चा हमने पिछले पाठ में की है । वे तीन रूप हैं—अव्यय अक्षर और क्षर । असीम जिस कारण से ससीम होता है उसे माया कहा जाता है । ब्रह्म यद्यपि असीम है तथापि वह इस माया शक्ति के कारण असीम रहते हुए ही ससीम भी हो जाता है। माया शब्द मा धातु से निकला है जिसका अर्थ है मापना । ससीम को हम नाप सकते हैं क्योंकि वह माया से युक्त है । असीम को हम नहीं नाप सकते क्योंकि वह माया से रहित है । ससीम की एक और विशेषता है कि वह निर्माण कर सकता है । असीम से कुछ निर्मित नहीं होता ।

से हम इस बात को समझें । एक बहुत बडा जगल है जिसमें अनेक पेड लगे हैं । इस जगल के पेडों से कुछ निर्माण नहीं होता उस जगल में लगे हुए एक पेड से भी कुछ नहीं बनता । यदि कुछ बनाना हो तो उस पेड की एक शाखा काटनी पडेगी । उसी से मेज कुर्सी इत्यादि बन सकेंगे । यद्यपि यह सच है कि वह शाखा उस वृक्ष के बिना नहीं होसकती थी और उस वृक्ष को भी रहने के लिए जगल की आवश्यकता थी । हमने पिछले पाठ में जिन तीन पुरुषों की चर्चा की है उनमें अव्यय पुरुष को जगल अक्षर पुरुष को वृक्ष तथा क्षर पुरुष को उस वृक्ष की शाखा समझा जा सकता है । पहले तीन पाठों में हमने शरीर प्राण और मन की चर्चा की है । तीन पुरुषों में क्षर शरीरप्रधान है अक्षर प्राणप्रधान है अव्यय मनप्रधान है । किन्तु हैं ये तीनों पुरुष पुर में सीमित । असीम तो निर्गुण ब्रह्म ही है । असीम ससीम कैसे हो जाता है ? यह वस्तुत एक पहेली है इसलिए इसका नाम माया है । बोलचाल की भाषा में हम माया उसे कहते हैं जो बात समझ में न आये । फिर भी वेदों ने इस पहेली को समझाने की कोशिश की है ।

मन की पहचान है कामना अर्थात् इच्छा ।[१] जब ब्रह्म का कर्म पक्ष जागना चाहता है तो ब्रह्म के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा होती है । यह इच्छा ही असीम को ससीम बना देती है क्योंकि असीम में तो कोई इच्छा हो ही नहीं सकती । इस इच्छा के कारण निर्गुण ब्रह्म सगुण और असीम ससीम हो जाता है । इसके साथ ही मन का जन्म होता है । यह मन वही है जिसे हमने तीसरे पाठ में श्वोवसीयस मन कहा है । यह मन अव्यय पुरुष की पाच कलाओं में एक है क्योंकि पुरुष में ज्ञान और कर्म दोनों हैं इसलिए उसकी कला मन में भी दोनों हैं । जब यह मन ज्ञान की ओर चलता है तो पहले विज्ञान को और अन्त में आनन्द को जन्म देता है । जब यह कर्म की ओर चलता है तो पहले प्राण को और फिर अन्न अथवा भूत को जन्म देता है । इस प्रकार अव्यय पुरुष की पाँच कलाए बन जाती हैं—आनन्द विज्ञान मन प्राण और अन्न । इनमें से मन यदि विज्ञान और आनन्द की ओर झुक जाये तो हमारी मुक्ति हो जाती है । किन्तु यदि वह प्राण तथा अन्न की ओर झुक जाये तो सृष्टि बनती है । हमने पहले तीन पाठों में अन्न (शरीर) प्राण और मन की चर्चा की है ।

अपनी इन पाँच कलाओं में से अव्यय पुरुष प्राण के साथ जुडकर अक्षर पुरुष को जन्म देता है और अन्न के साथ जुडकर क्षर पुरुष को । स्वय अव्यय पुरुष मन से जुडा रहता है । जिस प्रकार अव्यय पुरुष की पाँच कलाए हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष तथा क्षर पुरुष की भी पाँच पाँच कलाए बनती हैं जिनका वर्णन हम इसी पाठ में थोडा सा आगे चलकर करेंगे । इस प्रकार इन तीन पुरुषों की पन्द्रह कलाओं से मिलकर सोलहवा असीम ब्रह्म षोडशकल पुरुष कहलाता है ।

अव्यय पुरुष के श्वोवसीयस मन का उल्लेख हम तीसरे पाठ में कर चुके हैं । इस श्वोवसीयस मन में पैदा होने वाली इच्छा ही सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु है । वस्तुस्थिति यह है कि कोई भी सर्जन बिना कामना के नही हो सकता । इस सृष्टि का सर्जन हमारी कामना से तो हुआ नही है । इसके मूल में अव्यय पुरुष की कामना ही है । सीमा में बन्धने से पहले ब्रह्म कामनारहित था । माया द्वारा ससीम होते ही उस एक ने अनेक होने की इच्छा की । इच्छा क्रिया को जन्म देती है क्रिया प्राण का धर्म है । प्राण प्रधान अक्षर पुरुष है । इसलिए कामना के बाद सृष्टि की प्रक्रिया का दूसरा क्रम अक्षर पुरुष का प्राण अपना कार्य करता है । प्राण का काम है गति देना । कामना के कारण होने वाली यह

गति दो प्रकार की है । यदि यह गति परिधि से केन्द्र की ओर होती है तो इसे आकर्षण कहते हैं । यदि यह केन्द्र से परिधि की ओर होती है तो इसे उत्क्षेपण कहते हैं । तुमने विष्णु और इन्द्र का नाम सुना होगा । आकर्षण विष्णु के कारण होता है उत्क्षेपण इन्द्र के कारण होता है ।

यह आकर्षण और उत्क्षेपण निरन्तर चलते रहते हैं । इन दोनों गतियों के बीच जो स्थिति है उसका अधिष्ठाता ब्रह्मा है । ब्रह्मा के कारण पदार्थ स्थित रहता है । विष्णु परिधि से केन्द्र की ओर जो गति करते हैं उसके कारण पदार्थ का पालन होता है और इन्द्र जो उत्क्षेपण करता है उसके कारण पदार्थ का क्षय होता रहता है । इस प्रकार पदार्थ में विकास और ह्रास दोनों होते रहते हैं और इन दोनों के बीच पदार्थ की स्थिति भी बनी रहती है । ये ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र तीनों देव पदार्थ के हृदय कहलाते हैं क्योंकि इन्हीं के कारण पदार्थ का अस्तित्व है । विष्णु के आकर्षण से जो अश पदार्थ के केन्द्र की ओर आता है वह सोम है तथा इन्द्र के उत्क्षेपण के कारण जो पदार्थ बाहर की ओर जाता है वह अग्नि है । इस प्रकार अक्षर पुरुष की भी अव्यय पुरुष के समान पाच कलाए बन जाती है—ब्रह्मा विष्णु इन्द्र अग्नि तथा सोम । हमने पहले पाठ में कहा था कि ऋक् यजु और साम की एक कोटि है, अथर्ववेद की दूसरी कोटि है । यहा हम इतना और जोडना चाहते हैं कि ऋक् यजु और साम का अग्नि से सम्बन्ध है अथर्व का सोम से सम्बन्ध है । सोम की अग्नि में आहुति पडना ही यज्ञ है जिसे वेद में श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है । इस यज्ञ की चर्चा हम अगले पाठ में करेंगे । यहा इतना ही कहना है कि यज्ञ के बिना कोई सृष्टि नही होती । जिस यज्ञ से यह समस्त ससार उत्पन्न हुआ है उस यज्ञ को वेद में पुरुष यज्ञ कहा है और इसी यज्ञ का उल्लेख पुरुष सूक्त में है ।

जिस यज्ञ से सृष्टि उत्पन्न होती है, उससे तीन प्रकार की सृष्टि बनती है । एक बीज सृष्टि है जो सबसे सूक्ष्म है । उसे हम कारण शरीर कहते हैं । इसमें अविद्या अथवा अज्ञान मुख्य है । दूसरी देव सृष्टि है जो सूक्ष्म है तथा उससे ही हमारा सूक्ष्म शरीर बनता है और तीसरी भूत सृष्टि है जिसके पाँच भूत पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश से हमारा स्थूल शरीर बनता है । इस प्रकार अक्षर की पाँच कलाओं से त्रिविध सृष्टि बनती है ।

कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीर के अलावा प्रजा और वित्त (अर्थात् सम्पत्ति) मिलकर क्षर पुरुष की भी पाँच कलाए हो जाती हैं । क्षर पुरुष का मुख्य सम्बन्ध हमारे स्थूल शरीर से है । इसलिए क्षर पुरुष का विषय वही है जो भौतिक विज्ञान का है ।

हम अपने शरीर को देखें । सर्वप्रथम हमारा शरीर पिता के शुक्र रूप में माता के गर्भ में आता है । प्रारम्भ में यह शरीर शान्त रहता है । इसमें कोई हलचल नहीं होती । इसलिए इसे हम शान्त आत्मा कहते हैं । इसका सम्बन्ध ब्रह्मा से है । ब्रह्मा का सम्बन्ध स्थिति स है । शान्त आत्मा भी बिना हलचल है । ब्रह्मा ही इस शान्त आत्मा को जन्म देता है । जैसे ही यह गर्भ पाँचवें मास में प्रवेश करता है वैसे ही गर्भ में विष्णु और इन्द्र के प्रभाव से गति होने लगती है । गर्भ से बाहर आने पर उसी शरीर में श्वास प्रश्वास आदि क्रिया होने लगती है । यह महान् आत्मा का कार्य है । जिसे आज का विज्ञान ज्ञानवाहिनी और कर्मवाहिनी नाडी कहता है । वेद के अनुसार वह विज्ञानात्मा का कार्य है जबकि सुख दुःख का अनुभव करना प्रज्ञान आत्मा का काम है । हमारा यह स्थूल शरीर भूतात्मा कहलाता है । यह सब क्षर पुरुष का विषय है ।

चाहिये । इस उदारण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि यज्ञ एक विज्ञान है । उस विज्ञान को जाने बिना यज्ञ सफल नहीं हो सकता ।

बीज से पेड बनने के यज्ञ के फलस्वरूप वनस्पति में अन्न आता है । यह अन्न फिर हमारी जठराग्नि में जाता है । यहा अन्न सोम हुआ जिसकी आहुति जठराग्नि में पडती है । इसलिए यह भी एक यज्ञ हुआ । इस यज्ञ से हमारा शरीर किस प्रकार बनता है—इसका वर्णन हम प्रथम पाठ में कर चुके है । इस प्रकार चाहे वनस्पति का शरीर हो या हमारा शरीर सब यज्ञ से बनत है ।

वेद की भाषा में हम अग्नि को अन्नाद और सोम को अन्न कहते हैं । जब अग्नि में सोम आता है तो अग्नि इस सोम को पूरा आत्मसात् नही करती अपितु उसके कुछ अश को बाहर फेंक देती है । अन्न का जितना हिस्सा अग्नि आत्मसात् कर लेती है, वह ब्रह्मौदन बन जाता है जितना अश अग्नि आत्मसात् नहीं कर पाती वह प्रवर्ग्य कहलाता है । उदाहरणत गौ जब चारा खाती है तो उस चारे का एक भाग गौ के शरीर का निर्माण करता है, किन्तु इस चारे का एक हिस्सा गोदुग्ध गाबर या गौ मूत्र बनकर गौ के शरीर से बाहर आ जाता है । इस बाहर आने वाले हिस्से का नाम यज्ञ शेष है । इसे ही प्रवर्ग्य या उच्छिष्ट कहते हैं । ध्यान देने की बात है यह कि यह उच्छिष्ट प्रवर्ग्य या यज्ञ शेष हमारे बहुत काम का है । दूध हमारा भोजन बनता है गोबर पौधों का भोजन बनता है। इससे भी आगे चलें तो हम देखेंगे कि गोबर जिस पौधे का भोजन बना उस पौधे के पत्ते पुन गौ के भोजन बन गये । गीता में इसे यज्ञ चक्र कहा गया है । अर्थात् गौ चारे से अपने शरीर के लिये आवश्यक तत्त्वों को पचा लेने के बाद बचे हुए अश से गोबर पैदा करती है और गोबर वृक्ष के शरीर में जाकर वृक्ष के शरीर को बनाने के बाद बचे हुए अश से पत्ते पैदा करता है । इस प्रकार एक का यज्ञ शेष दूसरे के काम आता है ।

यहा यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पौधा जब अन्न ग्रहण कर रहा है तो वह अन्नाद या अग्नि है किन्तु वही पौधा जब पशु का आहार बनता है तो अन्न या सोम बन जाता है । इस प्रकार जो एक रूप में अग्नि है वही दूसरे रूप में सोम है । यह अग्नि साम का युगल सृष्टि का मूल है । अग्नि को पिता सोम को माता कह सकते हैं । हमने ऊपर कहा कि अग्नि और सोम अलग अलग नही है । एक पदार्थ एक अपेक्षा से अग्नि है, एक अपेक्षा से सोम है । सम्भव है तुमने कही अर्धनारीश्वर का चित्र देखा हो । इसमें एक ही चित्र का भाग आधा स्त्री का रहता है आधा भाग पुरुष का । अभिप्राय यह है कि एक पदार्थ में अग्नि और सोम दोनों समाये हैं । वृहज्जाबालोपनिषद् में कहा गया है कि अग्नि और सोम से ही सारा ससार बना है ।[१] यह सब यज्ञ की महिमा है ।

ऊपर हमने यज्ञ के वैज्ञानिक स्वरूप का उल्लेख किया किन्तु यज्ञ का केवल भौतिक वैज्ञानिक स्वरूप ही नही है मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है । जब हम किसी कामना से यज्ञ करते हैं तो वह कामना हमारे मन में रहती है । यज्ञ में किये जाने वाले सङ्कल्प में उस कामना को हम अभिव्यक्त करते हैं। हमारी यह कामना प्राण में अर्थात् ऊर्जा में एक गति उत्पन्न कर देती है । प्राणों में होने वाली यह गति ही अन्त में अभीष्ट पदार्थ को उत्पन्न करती है। वेद में प्राणों को देवता कहा गया है । मन की कामना की पूर्ति के लिये हम मन की ही शक्ति का प्रयाग करते हैं । मन की यह शक्ति मन्त्र द्वारा प्रकट होती है । मन की इस शक्ति से ही प्राण सक्रिय हो जाते है। वैदिक परिभाषा में इसे इस प्रकार

कहा जाता है कि मन्त्र से देवता प्रसन्न हो जाते हैं। हमने पहले तीन पाठों में मन प्राण और शरीर की चर्चा की है। शरीर से प्राण सूक्ष्म है प्राण से मन सूक्ष्म है। इसलिये मन के वश में प्राण है और प्राण के वश में शरीर है। दूसरे शब्दों में मन की मन्त्र शक्ति के वश में प्राण शक्ति अर्थात् देव शक्ति है और देव शक्ति के वश में समस्त पदार्थ हैं। यज्ञ का रहस्य यही है कि मन शक्ति से प्राणों को सक्रिय कर दिया जाये और प्राणों की सक्रियता पदार्थ को जन्म दे दें। वस्तुत मन की शक्ति से कुछ भी उत्पन्न हो सकता है। वेद के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति भी मन की शक्ति से हुई है।

यज्ञ में मन की शक्ति का प्रयोग करने के लिये दीक्षा लेना आवश्यक है। इस दीक्षा के बिना यज्ञ सफल नहीं हो सकता। दीक्षा के आठ अङ्ग हैं पहला अङ्ग है आकूति अर्थात् सङ्कल्प। किसी भी कर्म में हमें यह सबसे पहले स्पष्ट करना होता है कि हमारा उस कर्म को करने में उद्देश्य क्या है ? यदि उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो तो कर्म ठीक दिशा में नहीं होगा। सङ्कल्प द्वारा हमारा उद्देश्य स्पष्ट होता है। जब यह सङ्कल्प दृढ होता है तो उसे क्रतु कहते हैं। यह क्रतु दीक्षा का दूसरा हिस्सा है। दीक्षा का तीसरा हिस्सा है सङ्कल्प का कार्य रूप में बदल जाना। इसे प्रयुक् कहते हैं। सङ्कल्प का सदा स्मरण बना रहना चाहिये इसे मेधा कहते है। मेधा हमें अपने उद्देश्य से भटकने नही देती। जहा सङ्कल्प क्रतु और मेधा है वहीं दीक्षा है। इसके बाद तप का स्थान आता है। हमें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सभी प्रकार के कष्टों को सहर्ष सहन करना चाहिये। यही तप है। इसके बाद सरस्वती अर्थात् ज्ञान होना चाहिये क्योंकि ज्ञान के बिना कोई कर्म सफल नहीं हो सकता। सबसे अन्त में यज्ञ की सामग्री आती है। कोई कर्म करना हो तो उसके लिये अनुकूल सामग्री मिलना आवश्यक है। वेद कहता है कि जिसमें ये आठ बातें हैं वह दीक्षित है और उसका यज्ञ अवश्य सफल होता है। ये आठ चीजें यज्ञ के लिये ही नहीं बल्कि सभी कर्मों की सफलता के लिये आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति इन आठ साधनों से सम्पन्न होकर कर्म करता है उसके सभी कर्म यज्ञ बन जाते हैं।

कहा जाता है कि यज्ञ करने से मानुषात्मा में दिव्यात्मा प्रविष्ट हो जाती है। ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ करने वाले व्यक्ति के मुख में अग्नि वाणी बन जाती है नासिका में वायु प्राण बन जाता है आँखों में सूर्य चक्षु बन जाता है। अग्नि वायु सूर्य इत्यादि देवताओं का यह स्वभाव है कि वे अपना काम करते हुये कभी थकते नहीं है। न वे अपने काम में कभी कोई भूल करते हैं। ऐसा होने के दो कारण हैं—प्रथम तो ये देवता कभी अपने कर्म का अहङ्कार नहीं करते। सूर्य हमें इतना प्रकाश देता है हमारा इतना उपकार करता है किन्तु वह कभी अपने महान् कार्य पर अभिमान नहीं करता। दूसरे ये देवता अपने कर्मों का फल कभी नही भोगते। इनके कर्म सदा परोपकार के लिये ही होते हैं स्वार्थ के लिये नही। इसी का यह फल है कि ये कभी कर्म करते हुये थकते नहीं हैं और न अपने कर्म में कोई भूल करते हैं। हम भी यदि अपने कर्म में निरहङ्कार हो जाये और स्वार्थ रहित हो जायें तो न हमें थकावट होगी और न हमारे कर्म में कोई भूल होगी। यज्ञ का यही रहस्य है।

ऊपर हमने यज्ञ के सन्दर्भ में कामना की चर्चा की है। प्रश्न होता है कि कामना करना ठीक नही है क्योंकि कामना बन्धन का कारण है। [illegible]

जा सकता है ? उत्तर यह है कि यद्यपि कामना ठीक नहीं समझी जा सकती किन्तु मनुष्य कामना के बिना रह भी नही सकता इसलिये शास्त्रकारों ने दो प्रकार की कामना का विधान किया है १ वेद के स्वाध्याय की कामना करनी चाहिये २ वेद में प्रतिपादित कर्मयोग के अनुष्ठान की कामना करनी चाहिये।[२]

दूसरा प्रश्न होता है कि यदि व्यक्ति वैदिक कर्म का अनुष्ठान करेगा तो उसे कौन से फल प्राप्त होंगे। तैत्तिरीयोपनिषद् में वैदिक कर्मकाड के छ फल बताये हैं १ अन्न २ अन्नाद ३ पशु ४ सन्तान ५ ब्रह्मवर्चस और ६ कीर्ति। ऊपर हमने अन्न अन्नाद का उल्लेख किया है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ करने वाले पुरुष को खाने पीने की चीजों की कमी नहीं रहती। उसके घर में खाने पीने वाले व्यक्तियों की भी बहुलता रहती है। पशु से वे समस्त साधन समझने चाहिये जिनसे सुख मिलता है। ब्रह्मवर्चस तेज का नाम है,कीर्ति यश है। यदि हम ध्यान दें तो पता चलेगा कि हमारी समस्त उचित कामनाओं का समावेश इन छ में हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि यज्ञ से समस्त कामनाए पूरी होती है।

प्रश्न

१ यज्ञ शब्द का क्या अर्थ है ?
२ प्रकृति में यज्ञ किस प्रकार चल रहा है ?
३ यज्ञ से इष्ट पदार्थ कैसे प्राप्त हो जाते हैं ?
४ दीक्षा के आठ अङ्ग कौनसे है ?
५ देवता अपना कर्म किस प्रकार करते है ?
६ यज्ञ का क्या फल है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *अग्नीषोमात्मक जगत्-बृहज्जाबालोपनिषद्।*

अर्थ सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोम से बना है।

२ *कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।*
काम्यो हि वेदाधिगम कर्मयोगश्च वैदिक ॥
सकल्पमूल कामो वै यज्ञा सकल्पसम्भवा ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सकल्पजा स्मृता ॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ मनु स्मृति

अर्थ कामना प्रशसनीय नहीं है किन्तु अकामता भी उपलब्ध नहीं होती । अत वेद के अध्ययन की कामना करनी चाहिये और वेदोक्त कर्म करने की कामना करनी चाहिये । कामना का मूल सङ्कल्प है।सङ्कल्प से ही यज्ञ होता है तथा सङ्कल्प से ही व्रत और यम आदि धर्मों का पालन होता है । ससार में इच्छा के बिना किसी को कोई कर्म करते हुये नही देखा गया । हम जो कुछ भी करते है वह कामना का ही परिणाम है ।

त्रयोदश पाठ

ब्रह्माण्ड का उद्‌भव

हम भारतवर्ष में रहते हैं। भारतवर्ष पृथिवी का एक हिस्सा है। यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। इसी सूर्य के चारों ओर और भी अनेक ग्रह चक्कर लगाते हैं। इन सबको मिलाकर सौर मण्डल कहा जाता है। ऐसे अनेकानेक सौर मण्डल आकाश में फैले हैं। ये सभी मिलकर ब्रह्माण्ड कहलाते हैं। इस प्रकार हम सब ब्रह्माण्ड के हिस्से हैं। ब्रह्माण्ड से बाहर कुछ भी नहीं है। वेदों में यह सवाल उठाया गया है कि यह ब्रह्माण्ड कैसे बना ? इस सवाल के जवाब में वेद में अनेक सूक्त लिखे गये जिनमें दो सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं-नासदीय सूक्त और पुरुष सूक्त। हम पहले पाठ में पुरुष शब्द समझ चुके है। पुरुष का वर्णन जिस सूक्त में है उसे पुरुष सूक्त कहते हैं। नासदीय सूक्त का नाम नासदीय इसलिये पडा कि इसके प्रारम्भ में कहा गया है नासदासीत् अर्थात् न सत् और नही असत् आसीत् = था। अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ में सत् तो नहीं ही था असत् भी नहीं था। स्पष्ट है कि इस सूक्त में यह जानने की कोशिश की गयी है कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पहले क्या था ? उत्तर में कहा गया है कि उस समय न असत् था न सत् था न कोई क्रिया थी न आकाश था न कोई ऐसी चीज थी जो आकाश से भी परे हो। कोई आवरण भी नहीं था न भोग्य सृष्टि थी न भोक्ता था न जल था न मृत्यु न अमृत न रात दिन का ज्ञान था। इस सारे वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वैदिक ऋषि एक ऐसी स्थिति का वर्णन कर रहा है जब सृष्टि नहीं थी इसलिये कुछ भी नहीं था। तो यह सृष्टि क्या असत् से उत्पन्न हो गई ? वैदिक ऋषि ने कहा है कि उस समय असत् भी नहीं था। उस समय जो था उसे वेद ने तदेकम् कहा है। एक का अर्थ स्पष्ट है कि उस समय एक ही तत्व था अनेक नहीं। उस एक तत्व का कोई नाम नहीं रखा जा सकता इसलिये उसके लिये तत् सर्वनाम का प्रयोग हुआ है। इसे ही ब्रह्म कहा जाता है। यह ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। ब्रह्म जिस शक्ति के द्वारा सृष्टि उत्पन्न करता है उस शक्ति का नाम 'स्वधा' है।[१] स्वधा को ही माया कहा जाता है। शक्ति कभी शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती। जैसे अग्नि में जो दाहकता की शक्ति है वह अग्नि से कभी पृथक् नहीं रहती है। इसी प्रकार यह माया शक्ति भी ब्रह्म से कभी पृथक् नहीं रहती है।

ब्रह्म कारण है विश्व कार्य है। ब्रह्म का नाम इसलिये ब्रह्म है कि उसका विश्व के रूप में बृहण अर्थात् विस्तार होता है। ब्रह्म को विश्व रूप में परिणत होने के लिये सीमित होना पडता है। ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रह्म का सीमित रूप ही पुरुष है। माया ही ब्रह्म को सीमित बनाती है। माया का अर्थ ही है सीमित। वेद कहता है कि ब्रह्म अपनी माया शक्ति के साथ सृष्टि के प्रारंभ में था उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।

वेद के एक प्रमुख भाष्यकार सायण हुये। उन्होंने चारों वेदों पर संस्कृत में भाष्य लिखा है। इस नासदीय सूक्त पर उनका विस्तृत भाष्य है। उस भाष्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति की कहानी कुछ इस प्रकार है—ब्रह्म माया की शक्ति के द्वारा सीमित हो जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि हम और आप सब जीव कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं। अच्छे-बुरे उन सभी कर्मों का कुछ न कुछ फल भी होता है। सभी कर्म अपना फल तत्काल नहीं देते हैं। कुछ कर्म अपना फल बहुत लम्बे समय बाद देते हैं। इतनी बात साफ है कि हम अपने कर्मों का फल तभी भोग सकते हैं जब संसार हो। जब ऐसा समय आता है कि जीवों का कोई भी ऐसा कर्म नही होता जो अपना फल तत्काल दे सके तब सृष्टि की भी आवश्यकता नही होती। क्योंकि जीवों को जब अपने कर्मों का फल ही नहीं भोगना है तो संसार में होने वाले सुख दुःख कौन भोगेगा ? इसलिये ऐसी स्थिति में जब प्रलय हो जाता है तो उस समय कुछ भी नही रहता। उस स्थिति का वर्णन हम ऊपर कर भी चुके हैं। कुछ समय के बाद जीवों के कर्म परिपक्व हो जाते है अर्थात् वे इस योग्य हो जाते हैं कि अपना फल दे सकें । बस कर्मों की यह परिपक्वता ही परमात्मा के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा का कारण बनती है। किन्तु असीम में कोई इच्छा नहीं हो सकती और ब्रह्म असीम है इसलिये इच्छा उत्पन्न होने से पहले माया ब्रह्म के एक हिस्से को ससीम बना देती है। ब्रह्म का ससीम हिस्सा ही पुर कहलाता है जिसमें रहने वाला ब्रह्म पुरुष कहलाता है। इस पुरुष के मन में ही सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा पैदा होती है। किन्तु इस पुरुष का मन हमारे जैसा सामान्य मन नहीं है। इस मन को हम श्वोवसीयस मन कहते हैं। मोटे तौर पर यह समझना चाहिये कि यह मन किसी एक जीवात्मा का मन नही है परमात्मा का मन है।

परमात्मा के इस श्वोवसीयस मन में जो इच्छा उत्पन्न हुई उसे काम कहा जाता है।[२] जब परमात्मा ने सृष्टि बनानी चाही तो उसके सामने ऐसा कोई पदार्थ नही था जिससे सृष्टि बनाता इसलिये वह स्वयं ही एक से अनेक हो गया और उसके ही अनेक रूपों को सृष्टि कहते हैं।[३] वेद के एक दूसरे सूक्त पुरुष सूक्त में इस बात को यह कहकर समझाया गया है कि उस पुरुष के भिन्न भिन्न हिस्से हो गये। इसकी विस्तृत चर्चा हमने पञ्चदश पाठ में की है।

सृष्टि के प्रारंभ में तो अपनी माया शक्ति सहित केवल एक ब्रह्म था। किन्तु जब उपर्युक्त कारण से उसके मन में एक से अनेक होने की इच्छा उत्पन्न हुई तो उस इच्छा से तप उत्पन्न हो गया। हमने पहले दूसरे और तीसरे पाठ में प्राण और मन की चर्चा की है। कामना मन का धर्म है तप प्राण का व्यापार। सायण ने तप का अर्थ किया है स्रष्टव्य का पर्यालोचन। अभिप्राय यह है कि जब अव्यय पुरुष के मन में सृष्टि की कामना हुई तो उसने विचार किया कि जो सृष्टि बनाई जानी है वह कैसी हो ? उसका यह विचार करना ही तप कहलाता है। बस इस तप के अनन्तर ही सृष्टि उत्पन्न हुई। इस प्रकार अव्यय पुरुष की कामना ने नाम रूप रहित ब्रह्म से नाम रूपात्मक जगत् को जन्म दे दिया। इस जगत् में प्रकृति भोग्य है जीव भोक्ता है। सङ्क्षेप में यही एक से अनेक हो जाने की अथवा ब्रह्म से सृष्टि बन जाने की कहानी है। इस कहानी में तीन तत्त्व सृष्टि के मुख्य कारण बनते है—जीवों के कर्म ब्रह्म की शक्ति माया और अव्यय पुरुष की कामना। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। यदि जीवों के कर्म न हो तो अव्यय पुरुष के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही उत्पन्न नहीं

होगी और यदि ब्रह्म की माया शक्ति जो ब्रह्म को सीमित बना देती है न हो तो भी कामना उत्पन्न नही होगी क्योंकि असीम में तो कामना होती ही नही है।

केवल ब्रह्म की कामना से सृष्टि नही हो सकती। यह कामना गति को जन्म दे देती है। इस गति का ही नाम ऋषि है। यह गति दो प्रकार की होती है एक अन्तर्मुख गति जिसे विष्णु कहा जाता है और एक बहिर्मुख गति जिसे इन्द्र कहा जाता है। विष्णु की अन्तर्मुख गति से जगत् का पालन होता है क्योंकि वह पदार्थ को पुष्ट करता है। इन्द्र की बहिर्मुखगति से सहार होता है क्योंकि वह पदार्थ को निर्बल बनाती है। ये इन्द्र और विष्णु दोनों अपना काम करते रहते हैं और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में विकास और ह्रास दोनों होते रहते हैं। जब तक विष्णु बलवान् होता है पदार्थ विकसित होता रहता है। विष्णु के निर्बल पड जाने पर और इन्द्र के बलवान् हो जाने पर पदार्थ में ह्रास होना चालू हो जाता है। अन्ततोगत्वा जब विष्णु बहुत निर्बल पड जाते हैं और इन्द्र बहुत शक्तिशाली हो जाते हैं तो पदार्थ नष्ट हो जाता है। इसलिये विष्णु को पालक और इन्द्र को सहारक कहा जाता है। वेद में जो इन्द्र हैं पुराणों में वही शिव है। विष्णु की गति और इन्द्र की आगति के बीच ब्रह्मा पदार्थ की स्थिति बनाये रखते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु महेश ये तीन देव ही ससार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के कारण हैं। इन तीनों को मिलाकर त्रिमूर्ति कहा जाता है। ब्रह्मा का रजोगुण जन्म का कारण है। विष्णु का सत्त्व गुण पालन का कारण है और शिव का तमोगुण सहार का कारण है। एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मा विष्णु महेश्वरा ।

इन्द्र और विष्णु की गति आगति में एक लयबद्धता है। इस लयबद्धता के कारण सृष्टि में एक व्यवस्था है। यदि गति में लयबद्धता न हो तो सृष्टि में सब अव्यवस्थित हो जाये। हमने ऊपर तीन गुणों की चर्चा की—सत्त्व रजस्, तमस्। इनमें तमोगुण पदार्थ का रूप है रजोगुण उसमें होने वाली गति है और सत्त्व गुण ज्ञान रूप है। देवों की भाषा में इसे हम इस रूप में कहते है कि अग्नि से पदार्थों का निर्माण होता है वायु से उसमें गति आती है तथा आदित्य से ज्ञान होता है। आत्मा की भाषा में आत्मा के तीन घटक हैं—वाक् प्राण और मनस्। वाक् का सम्बन्ध पदार्थ से है प्राण का सम्बन्ध गति से है और मन का सम्बन्ध ज्ञान से है। इन सबकी चर्चा हम दशम पाठ में कर चुके हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि जिन पुरुषों की चर्चा हमने की है उनमें अव्यय पुरुष मन से जुडा है अक्षर पुरुष प्राण से और क्षर पुरुष वाक् से।

ऊपर हमने प्रजापति के मन की चर्चा की है। तप के द्वारा उसने यह विचार किया कि सृष्टि का निर्माण कैसा हो ? किन्तु केवल तप से ही सृष्टि का निर्माण नहीं हो पाया। इसके लिये उसे अपने आपको यज्ञ में आहुत करना पडा। इसी होम का वर्णन पुरुष सूक्त में है। यज्ञ में जब पुरुष ने स्वय को आहुत किया और जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो वह सृष्टि पुरुष से भिन्न नहीं थी बल्कि पुरुष ही सृष्टि में परिणत हो गया।

इस सारी सृष्टि की प्रक्रिया में तीन चीजें केन्द्र में थी—मन प्राण वाक्। मन की कामना प्राण का तप और वाक् का श्रम सृष्टि का कारण बना।[१] तप और श्रम में यह अन्तर है कि तप अन्तर्व्यापार है श्रम बहिर्व्यापार है। आज भी हम कुछ उत्पन्न करना चाहें तो उसमें तीन ही कदम महत्वपूर्ण होंगे हमारी कामना हमारा ज्ञान या अन्तर्व्यापार और हमारा कर्म या बहिर्व्यापार। क्योंकि सृष्टि के केन्द्र—

में य तान सापान होने हैं। इसलिय उसक तीन केन्द्र होते हैं। तुम देखाग कि यदि हम तीन केन्द्रों वाले गोले बराबर बराबर बनायें तो वह आकृति गालाकार न होकर अण्डाकार बन जायगी। बस इसलिये यह विश्व भी अण्डाकार बना गालाकार नही,क्योंकि उसका एक केन्द्र नहीं था बल्कि तान कन्द्र थे। इसलिये विश्व का नाम ब्रह्माण्ड है। सक्षप में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की यही कहानी है।

प्रश्न

१ विश्व के उत्पन्न करने में ब्रह्म तथा उसकी शक्ति माया का क्या योगदान ह ?
२ परमात्मा सृष्टि को उत्पन्न करन की इच्छा क्यों करता हे ?
३ पुरुप के तप का क्या रूप ह ?
४ कामना स सृष्टि कसे होती है ?
५ ब्रह्माण्ड अण्डाकार क्यो हे ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *आनीदवात स्वधया तदेकम्* । ऋग्वद

अर्थ सृष्टि के प्रारम्भ में वह एक ब्रह्म अपनी शक्ति सहित वायु के बिना (अर्थात क्रियारहित) श्वसन कर रहा था।

२ *कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्* । ऋग्वेद

अर्थ. सृष्टि के प्रारम्भ में कामना हुई जो मन की प्रथम शक्ति थी।

३ *एक वा इद विबभूव सर्वम्* । ऋग्वेद

अर्थ एक ही वह यह सब कुछ बन गया।

४ *प्रजापतिरकामयत सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत्* । शतपथ ब्राह्मण

अर्थ. प्रजापति ने कामना की उसने श्रम किया उसने तप किया।

चतुर्दश पाठ

सृष्टि की आयु तथा चार युग

वेदों में सृष्टि के सम्बन्ध में चार प्रश्नों पर विस्तार से विचार हुआ है १ सृष्टि किससे बनी २ सृष्टि कैसे बनी ३ सृष्टि क्यों बनी ४ सृष्टि कब बनी । हम इन प्रश्नों में से इस अन्तिम प्रश्न पर विचार करें कि सृष्टि कब बनी । इसी प्रश्न के उत्तर पर इस प्रश्न का उत्तर भी निर्भर करता है कि सबसे पुराना सवत्सर कौन सा है ? इस सबसे पुराने सवत्सर को सृष्टि सवत्सर कहा जाता है क्योंकि इसका प्रारम्भ तब हुआ जब सृष्टि का प्रारम्भ हुआ । वस्तुत यही सवत्सर अन्तर्राष्ट्रीय सवत्सर होना चाहिए क्योंकि इस सवत्सर का सम्बन्ध किसी एक देश की किसी घटना विशेष से या किसी एक व्यक्ति विशेष से न जुडा होकर पूरी सृष्टि से जुडा है । अभी १९९४ ईसवी में इस सवत्सर का १९६०८५३०९४ वाँ वर्ष चल रहा है । प्रश्न हो सकता है कि इतने पुराने सवत्सर का आधार क्या है ।

इस सृष्टि सवत्सर की गणना प्रत्येक भारतीय आज भी हर शुभ कार्य के प्रारम्भ में सकल्प लेते समय करता है यह दूसरी बात है कि अज्ञानवश वह यह समझ न पाता हो कि वह क्या कह रहा है ? उदाहरणत १ १ १९९५ को कोई व्यक्ति शुभ कार्य करने से पहले जो वाक्य सस्कृत में बोलेगा अथवा पुरोहित उसकी ओर से जो वाक्य बोलेगा उसका एक अश इस प्रकार होगा—आज ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध में श्री श्वेतवराहकल्प में वैवस्वत मन्वन्तर में २८वें कलियुग के प्रथम चरण में अमुक कार्य करूँगा । इस वाक्य का अर्थ समझ लेने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि सृष्टि को बने कितने वर्ष हो गये । इस वाक्य का अर्थ समझने के लिए सर्वप्रथम यह जानना होगा कि जिस वर्ष से हम परिचित है उसका आधार पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करना है, किन्तु इस हमारे चिरपरिचित वर्ष के अतिरिक्त भी कुछ अन्य वर्ष हैं ।

तीन प्रकार के अहोरात्र

हमारे वर्ष की इकाई एक दिन रात है जो २४ घटे का होता है तथा जिसका प्रकाशमय भाग दिन कहलाता है और अन्धकारमय भाग रात कहलाता है । इस प्रकार के प्रकाशमय तथा अन्धकारमय विभाजन दो और हैं—शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष एव उत्तरायण तथा दक्षिणायन । शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष १५ १५ दिन के एव उत्तरायण तथा दक्षिणायन—६ ६ मास के हैं । इन दोनों को एक एक दिन रात मानकर भी वर्ष की गणना की है । शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष के अहोरात्र से पितरों का वर्ष बनता है तथा उत्तरायण दक्षिणायन के अहोरात्र से देवताओं का वर्ष बनता है । पितरों के दिन रात के बारे में यह बात ध्यान रखने की है कि वहाँ पितरों के लिए अन्धकारमय कृष्णपक्ष दिन है तथा प्रकाशमय शुक्लपक्ष रात है ।

चार युग

जहाँ तक देवताओं के वर्ष का प्रश्न है वह उत्तरायण दक्षिणायन के अहोरात्र से बनता है अत उसका एक दिन रात एक वर्ष का है । वह दिव्य वर्ष ३६० वर्षों का होता है । इस ३६० वर्षों के वर्ष को हम दिव्य वर्ष कहेंगे तथा अपने चिरपरिचित वर्ष को हम मानुष वर्ष कहेंगे । मनुष्य की आयु मानुष वर्षों में नापी जाती है देवताओं की आयु दिव्य वर्षों से नापी जाती है । मनुष्य की आयु १०० वर्ष की है देवताओं की आयु १००० दिव्य वर्षों की है ।

इस प्रकार एक देवता की आयु मानुष वर्षों में ३६० x १००० = ३६०००० वर्षों की हुई । १०० वर्षों का एक मानुष युग होता है ३६०००० वर्षों का एक दिव्य युग होता है । दस दिव्य युगों की एक चतुर्युगी होती है कृतयुग में ४ दिव्य युग त्रेता में ३ द्वापर में २ तथा कलियुग में १ दिव्य युग होता है ।

दिव्य युग को ३६०००० से गुणा करने पर मानुष वर्ष निकल आते हैं । इस प्रकार चारों युगों के वर्ष इस प्रकार होंगे ।

कृतयुग १४,४० ००० वर्ष

त्रेतायुग १० ८०,००० वर्ष

द्वापरयुग ७ २० ००० वर्ष

कलियुग ३,६० ००० वर्ष

यह गणना केवल दिन रात के आधार पर की गई है । दिन रात के साथ साथ प्रात सायम् के दो सन्ध्या काल और हैं । इस सन्ध्याकाल के भी ४ ३ २ १ के अनुपात से बटने पर चारों युगों के सन्ध्याकाल क्रमश ४०० + ४०० = ८०० ३०० + ३०० = ६०० २०० + २०० = ४०० तथा १०० + १०० = २०० दिव्य वर्ष होंगे । इन दिव्य वर्षों को मानुष वर्षों में बदलने पर क्रमश २८८००० २१६००० १४४००० ७२००० वर्ष होंगे । इन्हें उपर्युक्त दिनरात के वर्षों में जोड देने पर चारों युगों के वर्ष इस प्रकार होंगे ।

कृतयुग = १४४०००० + २८८००० = १७२८००० वर्ष

त्रेता युग = १०८०००० + २१६००० = १२९६०० वर्ष

द्वापर युग = ७२०००० + १४४००० = ८६४००० वर्ष

कलियुग = ३६०००० + ७२००० = ४३२००० वर्ष

इन चारों युगों की एक चतुर्युगी ४३२०००० वर्षों की होगी । यह एक चतुर्युगी सूर्य की आयु का एक वर्ष है । ऐसे ऐसे वर्षों वाली सूर्य की १००० वर्षों की आयु है, अर्थात् सूर्य की पूर्णायु

४३२०००० x १००० = ४३२ ०००० ००० मानुष वर्षों की है । इस पूर्णायु के कितने अंश सूर्य अब तक भोग चुका यह प्रश्न मन्वन्तर की कालावधि से जुड़ा है ।

पन्द्रह मन्वन्तर

सूर्य की पूर्णायु को १५ से विभाजित करने पर एक मन्वन्तर निकलता है । १५ से विभक्त इसलिए किया जाता है कि एक पक्ष में १५ ही अहोरात्र होते हैं । सूर्य पूर्णायु में सहस्र चतुर्युगी है। प्रथम १४ मन्वन्तरों में एक एक मन्वन्तर में ७१ ७१ चतुर्युगी है । इस प्रकार १४ मन्वन्तरों में ७१ x १४ = ९९४ चतुर्युगी बीत जाती हैं । शेष ६ चतुर्युगी १५वें मन्वन्तर में रहती है । उपर्युक्त सङ्कल्प सूत्र के अनुसार अभी ६ मन्वन्तर बीत कर सातवा मन्वन्तर चल रहा है । इसी सातवें मन्वन्तर का नाम वैवस्वत मन्वन्तर है । जो ६ मन्वन्तर बीत चुके उनकी ७१ x ६ = ४२६ चतुर्युगी हुई । एक चतुर्युगी ४३२०००० वर्षों की है । अत ६ मन्वन्तर के ४३२०००० x ४२६ = १८४०३२०००० मानुष वर्ष हुए । ७वें वैवस्वत मन्वन्तर के भी २७ चतुर्युग बीत चुके हैं अर्थात् ४३२०००० x २७ = ११६६४०००० मानुष वर्ष।२८वी चतुर्युगी के भी तीन युग अर्थात् १७२८००० + १२९६०० + ८६४००० = ३८८८००० मानुष वर्ष बीत गये हैं । कलियुग के ४३२००० वर्षों को चार चरणों में बाटा गया है । एक चरण १०८००० वर्षों का हुआ इनमें प्रथम चरण के अभी ५०९१ वर्ष गुजरे हैं । इस प्रकार सृष्टि को बने अभी ६ मन्वन्तर (१८४०३२०००० वर्ष) २७ चतुर्युगी (११६६४०००० वर्ष) एक युगत्रयी (३८८८००० वर्ष) तथा कलियुग के प्रथम चरण के ५०९४ वर्ष बीत चुके हैं । इनका कुल योग १९६०८५०९१ वर्ष की सूर्य की अब तक की आयु है । यही सृष्टि संवत्सर है जो संसार का सबसे पुराना संवत्सर है क्योंकि सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व हमारे परिचित संवत्सर की कल्पना ही नहीं कर सकते । सूर्य के पूर्णायु ४३२००००००० वर्ष में से वर्तमान आयु के १९६०८५३०९१ वर्ष निकाल देने पर सृष्टि की शेष आयु २३५९१४६९०९ वर्ष निकल आती है ।

विज्ञान की पहुंच से परे

स्वयं सूर्य भी एक पिण्ड की परिक्रमा कर रहा है । उस पिण्ड का ही नाम परमेष्ठी मण्डल है । सूर्य का काल मूर्त है परमेष्ठी मण्डल का काल मूर्तामूर्त है । उस मूर्तामूर्त काल तक वर्तमान विज्ञान की गति नहीं है । इस परमेष्ठी मण्डल का एक दिन ४३२००० ०००० मानव वर्षों का है अर्थात् सौरमण्डल की पूर्णायु परमेष्ठी मण्डल का एक दिन है । हमारी सृष्टि जितने समय तक रहती है उतने समय में परमेष्ठी मण्डल का एक दिन मात्र बीतता है । ४३२ ००० ०००० वर्षों का सृष्टिकाल है तो इतने ही वर्षों का प्रलयकाल है । यह प्रलयकाल परमेष्ठीमण्डल की रात्रि है । इस प्रकार परमेष्ठी मण्डल का एक अहोरात्र ८६४ ००० ०००० वर्षों का है । यह अहोरात्र ब्राह्म अहोरात्र कहलाता है । इसे ३६० से गुणा करने पर ब्राह्म वर्ष का समय आयेगा तथा उसे १०० से गुणा करने पर परमेष्ठी मण्डल की पूर्णायु अर्थात् ८६४००० ००००० x ३६० x १०० = ३११०४० ००० ००० मानुष वर्ष । यह एक ब्राह्म युग हुआ । ऐसे १००० ब्राह्म युगों की कल्पना करके परमेष्ठी

मण्डल में भी चतुर्युग व्यवस्था तथा मन्वन्तर व्यवस्था की जा सकती है । किन्तु हमारे द्वारा आविष्कृत सख्याओं का अतिक्रमण करने के कारण वह सख्या असख्य होगी यद्यपि वह अनन्त नहीं है ।

विश्व का मूल स्वयम्भू

परमेष्ठीमण्डल भी स्वयम्भू मण्डल की परिक्रमा करता है अत वहा कालगणना की कल्पना की जा सकती है किन्तु स्वयम्भू मण्डल किसी की परिक्रमा नही करता अत वहाँ काल अमूर्त ही रह जाता है । इस प्रकार सूर्य का काल मूर्त परमेष्ठी का मूर्तामूर्त तथा स्वयम्भू का अमूर्त है । इनमें स्वयम्भू का अमूर्तकाल "ऋजुकाल महाकाल कहलाता है परमेष्ठी का मूर्तामूर्तकाल "ऋतकाल" कराल काल कहलाता है तथा सूर्य का मूर्तकाल "कुटिलकाल" रोहितकाल कहलाता है । ये नाम तत्तत् काल के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले हैं । उदाहरणत सूर्य के काल को सूर्य की लोहित रश्मियों से जुडे होने के कारण लोहित कहा गया है । ये तीनों ही काल भातिसिद्ध हैं, इन तीनों का आदि तथा अन्त है । किन्तु सत्तासिद्ध काल किसी भी पिण्ड के द्वारा किसी अन्य पिण्ड का परिक्रमा की अवधि से नही नापा जाता । उसका न आदि है न अन्त । उस काल को तो अथर्ववेद ने सबका ईश्वर तथा प्रजापति का भी पिता बताया है—

कालो ह सर्वस्येश्वरो य पितासीत् प्रजापते

काल की केन्द्रस्थता

प्रश्न है कि अथर्ववेद ने काल की अनन्तता को ही लक्ष्य में रखकर काल को सर्वेश्वर तथा प्रजापति का पिता बता दिया अथवा काल के इस स्तुतिगान का कोई अन्य कारण भी है ? वस्तुस्थिति यह है कि काल की इस स्तुति का मुख्य कारण कुछ और ही है । सृष्टिक्रम में सर्वोच्च स्थिति उस अव्यय पुरुष की है जो सृष्टि का साक्षीमात्र है । अक्षर पुरुष सृष्टि का निमित्त कारण है तथा क्षर पुरुष सृष्टि का उपादान कारण है । इन तीनों की पाँच पाँच कलायें हैं । य १५ कलायें परात्पर स जुडकर षोडशकल पुरुष बनती है जिसका वैदिक साहित्य में बारम्बार उल्लेख है । यहाँ प्रासङ्गिक अव्यय पुरुष की पाँच कलायें है—आनन्द विज्ञान मन प्राण तथा वाक् इन्ही पाँच कलाओं को उपनिषद् पाँच कोश कहते है । इन ५ कलाओं के मध्य में मन है जिसक एक ओर आनन्द विज्ञान तथा दूसरी ओर प्राणवाक् है । स्पष्ट है कि मन केन्द्र में है । काल का सम्बन्ध अव्यय पुरुष की इसी केन्द्रस्थ कला मन से है । मन की शक्ति ज्ञान है प्राण की शक्ति क्रिया तथा वाक् की शक्ति अर्थ है । मन प्राण तथा वाक् की यह त्रिपुटी ही विश्व के सब पदार्थो का निर्माण करती है । मन रूप को प्राण कर्म को तथा वाक् नाम को बनाती है । किसी भी पदार्थ में ये तीन ही मनाता—जिन्हें अग्रेजी में कान्स्टीटयूअन्ट कर सकते हैं—रहते है । इन तीनों मनोताओं में मन मुख्य है । ये मन जब सौर तत्त्व से जुडता है तो इसका नाम मनु हो जाता है जो कि मन्वन्तरों का निर्माण करता है । ये मन्वन्तर ही कालावधि के मापक बनते हैं ।

काल, दिक्, देश

जिस प्रकार अव्ययपुरुष का ज्ञानशक्ति घन मनस्तत्व सौर तत्व से जुडकर मनुरूप में काल को जन्म देता है उसी प्रकार अव्ययपुरुष का क्रियाशक्तिघन प्राणतत्व दिक् को तथा अर्थशक्तिघन वाक्तत्व देश को जन्म देता है । ये काल दिक् देश की त्रयी ही सृष्टि के मूल में है । इनमें केन्द्रस्थ मन से सम्बन्ध होने के कारण काल मुख्य है । जहा तक विज्ञान तथा आनन्द कलाओं का सम्बन्ध है वे सृष्टि में नही प्रत्युत मुक्ति में सहायक होती हैं । सृष्टि क्रम में तो मन काल के माध्यम स आयु को प्राण दिक् के सम्बन्ध स ज्योति को तथा वाक् देश के माध्यम से गौ को बनाता है । इन तीनों को वैदिक परिभाषा में आयुष्टोम ज्योतिष्टोम तथा गोष्टोम यज्ञ कहा जाता है । आयुष्टोम हमारी आत्मा का ज्योतिष्टोम इन्द्रियों का तथा गोष्टोम शरीर का स्वरूप निर्धारित करता है । सङक्षप में इसी प्रक्रिया द्वारा अव्ययपुरुष से हम जुडे हुए हैं । आत्मा के बिना शरीर तथा इन्द्रियों का कोई अर्थ नहीं है । इसी प्रकार काल के बिना दिक्-देश सब निरर्थक हैं । अत इन तीनों में काल ही प्रधान है। वस्तुत सत्तासिद्ध काल तो स्वय अव्ययपुरुष ही है । इसीलिए तो गीता में कृष्ण ने अपने को काल बताया है

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्ध ।

तीन सर्ग

काल दिक् तथा देश क्रमश तीन सृष्टियों के जन्मदाता हैं—कालसर्ग दिक्सर्ग तथा देशसर्ग । कालसर्ग पुरुषसर्ग ब्रह्म सृष्टि अथवा ऋषिसृष्टि कहलाती है । दिक् सर्ग प्रकृति सर्ग यज्ञ सृष्टि अथवा देव सृष्टि कहलाती है । देशसर्ग विकृतिसर्ग मैथुनी सृष्टि अथवा पितृसृष्टि कहलाती है । हम अधिकतर देश सर्ग से ही परिचित हैं । यदि कदाचित् कालसर्ग अथवा दिक् सर्ग की झलक देखन को हमें मिल जाये तो हम उसे चमत्कार अथवा अन्धविश्वास की कोटि में डाल देते है क्योंकि वह हमारी समझ स परे है । इनमें मानसी सृष्टि तो अमूर्त है प्राण सृष्टि तथा वाक् सृष्टि ही मूर्त है । अमूर्त का प्रतीक स्वयम्भू है मूर्त का प्रतीक सूर्य । परमेष्ठी दोनों के बीच की कडी है । ये मन प्राण तथा वाक् हमार व्यक्तित्व में क्रमश कारण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर है जबकि व्यष्टि में ये ही क्रमश सूर्य चन्द्र तथा पृथ्वी है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे ।

जिस हम चमत्कार कोटि में डाल देते है वे देवविभूतिया है जिनका सम्बन्ध प्राणकाल से है । हमार दैनन्दिन अनुभव में आने वाला भूतसर्ग है जिसका सम्बन्ध भूतकाल से है । देवविभूतिया केवल कालावच्छिन्न हैं दिक् देश से वे अस्पृष्ट हैं । भूतसर्ग दिक् देश काल तीनों से अवच्छिन्न है ।

कालजय

सवत्सरविद्या का वास्तविक प्रयोजन काल पर विजय पाना है । स्वयभू परमेष्ठी ही अमृत लोक है । इन दोनों को अपुनर्मार कहा गया है । चन्द्र तथा पृथ्वी मर्त्य हैं । सूर्य इन दोनों के बीच

मर्त्यामर्त्य रूप है । प्राणसूर्य अमृत है भूतसूर्य मर्त्य है । साधक प्राण-सूर्य से सम्बन्ध जोडकर अमृतत्व से जुडता है । यह प्रक्रिया रहस्यविद्या का अग है किन्तु इस रहस्यविद्या का मूल आधार एक ही है जो सर्वजनबाध्य है—दूरदर्शिता से दूरगामी हित को देखो, तात्कालिक सुख के पीछे दीर्घकालिक हित की उपेक्षा मत करो । तात्कालिक सुख लुभावने प्रतीत होते है किन्तु वे दीर्घकालिक हितों के विरोधी होते हैं । जो उन तात्कालिक सुखों पर विजय नहीं पा सकता वह काल के वशीभूत हो जाता है किन्तु जो उन पर विजय पा लेता है वह काल को जीत लेता है । काल को जीतने का एक सरल उपाय है—काल के आर पार देख पाना ।

आज हम तत्काल सुख चाहते हैं । व्यक्ति के स्तर पर इसका परिणाम भ्रष्टाचार है । सामूहिक स्तर पर इस लघुदर्शिता का परिणाम प्रकृति के सन्तुलन को बिगाडना है । तात्कालिक लाभ के लिए व्यक्ति व्यक्ति की हत्या कर सकता है । आज कोई अपने को सुरक्षित नही मान रहा । तुच्छ सकीर्ण स्वार्थों के वशीभूत आतकवादी पृथक्तावाद को पारमार्थिक सत्य मान रहे है । इधर लोभवश जगल अन्धाधुन्ध कट रहे हैं । पर्यावरण दूषित हो रहा है । हम ओजोन की परत को क्षतिग्रस्त बनाने के दुष्परिणामों से चिन्तित हैं किन्तु जिन कारणों स यह क्षति हो रही है उन कारणों के निवारण की बात करने को कोई तैयार नही क्योंकि हम रेफ्रिजरेटर जैसी कुछ सुविधाओं के दास हो गय है ।

हम एक सङ्कल्प लें—कालजयी बनने का । कालबद्ध सुख के आकर्षण को छोडकर कालातीत आनन्द में डूब सकें तो आने वाला युग हमारे लिये सचमुच नूतनता ला सकता है ।

कलियुग के तीन प्रकार

प्राय वर्तमान की परिस्थिति का दायित्व हम कलियुग पर डाल देते हैं । कलियुग वर्तमान में है किन्तु कलियुग पर हमारी कमजोरियों की जिम्मेदारी नही डाली जा सकती । प्रत्येक युग तीन प्रकार का होता है — व्यक्तिगत समष्टिगत तथा प्राकृतिक । युगों की एक परिभाषा है — सोना कलियुग है अगडाई लेना द्वापर है उठ खडे होना त्रेता है गतिशीलता कृतयुग है—

कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन् ॥

यह व्यक्तिगत युग की व्याख्या है । जब मैं आलस्य म हूँ तो वह मेरा कलियुग है जब मैं पुरुषार्थ में लगा हूँ तो वह मेरा सतयुग है । १९९५ में ही आलसी प्राणी कलियुग भोगेंगे तथा उसी समय पुरुषार्थी कृतयुग का आनन्द लेंगे ।

समष्टिगत युग का कारण हमारा सामूहिक प्रयास है । यह प्रयास हम राज्य सस्था द्वारा करते हैं । जिन देशों की सरकारें व्यवस्था बनाये रखेंगी न्याय की स्थापना करेंगी उन राष्ट्रों में कृतयुग प्रवृत्त होगा जहा व्यवस्था गडबडायेगी अन्याय होगा वहा कलियुग रहेगा । इस समष्टिगत युग को सुधारने की जिम्मेदारी सरकार पर है । इसीलिए महाभारत ने स्पष्ट घोषणा की है कि राजा ही युग का निर्माण करता है—राजा कालस्य कारणम् । इस प्रकार व्यक्तिगत तथा समष्टिगत युग का निर्माण हमारा व्यक्तिगत पुरुषार्थ तथा समष्टिगत प्रयत्न करता है । जिस कलियुग की चर्चा हम

अपने सङ्कल्प सूत्र में करते हैं वह कलियुग प्रकृतिगत है तथा उस पर हमारा कोई अधिकार नही है। किन्तु उस प्राकृतिक कलियुग के काल में हम व्यक्तिगत पुरुषार्थ द्वारा तथा सामाजिक सुव्यवस्था द्वारा अभी और यही अपने लिए कृतयुग ला सकते हैं ।

प्रश्न

१ मानव वर्ष पितृवर्ष तथा दिव्य वर्ष क्या है ?
२ मन्वन्तर क्या हे ?
३ सूर्य की पूर्णायु कितनी ह ?
४ कालजय का क्या अर्थ हे ?
५ कलियुग तीन प्रकार का कैसे है ?

स्मरणीय उद्धरण

१ *कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर ।*
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन् ॥ ऐतरेय ब्राह्मण

अर्थ लेटा हुआ कलि है अगडाई लेना द्वापर है खडा हो जाना त्रेता है तथा चरणशील सतयुग है।

२ *सङ्कल्प—विष्णुर्विष्णुर्विष्णु श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य अद्य ब्रह्मण द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेतवराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे...*

अर्थ विष्णु विष्णु विष्णु श्रीमान् भगवान् महापुरुष विष्णु की आज्ञा से प्रवर्तमान ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध में श्रीश्वेतवराहकल्प में वैवस्वत मन्वन्तर में अट्ठाईसवें कलियुग में कलि के प्रथम चरण में...

पञ्चदश पाठ

पुरुष सूक्त (ऋग्वेद-१०.९०)

पुरुष की अवधारणा देश और काल से बंधी हुई है । जो भी देश काल से बंधा है वह ससीम कहलाता है । जो देशकाल से परे है वह असीम है । देशकाल से बंधे हुए का पारिभाषिक नाम पुर है । उस पुर में रहने वाला पुरुष कहलाता है । इस पुरुष से ही सृष्टि होती है । पुरुष शब्द और भी अनेक प्रकार से बनाया जा सकता है—

१ पुरुधा = अनेकत्र,स्यति = व्यवसाय करता है ।
अर्थात् जिसके बिना कुछ भी क्रिया नहीं होती वह पुरुष है ।

२ पुरा = पूर्व,रुष्यति = हिंसित है ।
अर्थात् निःसीम का सीमाकरण द्वारा हिंसित होना ही पुरुष है ।

३ पुर्षु = पुरा म,रुष्यते = बन्धा है ।
अर्थात् पुरों में सीमित हो जाना ही पुरुष है ।

४ पुरा औषत = जला देने वाला मृत्युमय माया बल से तिरस्कृत ही पुरुष है ।

इन सभी व्युत्पत्तियों में मुख्य बात यह है कि परम तत्त्व स्वय निःसीम है । वह अपनी इच्छा से ही सृष्टि बनाने के लिए सीमित हो जाता है । यह सीमित पुरुष ही सृष्टि का निर्माण करता है । पुरुष से सृष्टि कैसे बनती है ? इसका वर्णन इस पुरुष सूक्त में है । इस पुरुष सूक्त का देवता पुरुष माना गया है । ऋषि नारायण है । इस पुरुष सूक्त की सब ऋचाओं में तो त्रिष्टुप् छन्द है केवल अन्तिम सोलहवी ऋचा में अनुष्टुप् छन्द है । इतनी भूमिका के बाद अब हम इस पुरुष सूक्त के प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या करेंगे ।

पहला मन्त्र इस प्रकार है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

इस मन्त्र का शब्दार्थ यह है कि पुरुष के हजार सिर हैं हजार आँखें हैं तथा हजार पाँव हैं । यह भूमि को चारों ओर से घेरने के बाद भूमि से अतिरिक्त भी दशाङ्गुल तक है ।

यहाँ सहस्र सिर सहस्र आँख और सहस्र पाव में "सहस्र" हजार को नहीं बताता बल्कि अनन्त को बताता है । यदि सहस्र का अर्थ हजार होता तो जिसके हजार सिर है उसकी आँखें और पाँव दो दो हजार होने चाहिये थे क्योंकि वह काणा या लगडा तो है नहीं । इसलिए अभिप्राय यह मानना पडेगा कि उसके सिर आखें और पाव अनन्त हैं । अभिप्राय यह है कि सृष्टि को बनाने वाले पुरुष को हम इस दृष्टि से ससीम कहते हैं कि वह देश और काल में बधा है । लेकिन क्योंकि हम उसके ओर छोर का पता नहीं पा सकते इसलिए वह अनन्त है । इस मन्त्र में उसके तीन अगों का उल्लेख है सिर आँख और पाँव । सिर से हम सोचते हैं यह ज्ञान का वाचक है । आँख से हम देखते हैं यह क्रिया में सहायक है । पाँव पर हम टिके हैं यह हमारे शरीर का आधार है । वैदिक त्रैतवाद में किसी पदार्थ के तीन ही पक्ष होते हैं—पदार्थ का पिण्ड उसमें होने वाली क्रिया और उसका ज्ञान । यहा पाद चक्षु और शीर्ष शब्द से इन तीनों का बोध होता है अर्थात् वह पुरुष सृष्टि के पदार्थों का पिण्ड भी बनाता है और उन पिण्डों में क्रिया और ज्ञान भी पैदा करता है ।

यहाँ यह भी अभिप्रेत है कि वह पुरुष सृष्टि के ज्ञान मूलक अव्यक्त अश को भी बनाता है क्रियामूलक व्यक्ताव्यक्त अश को भी बनाता है और अर्थमूलक व्यक्त अश को भी बनाता है ।

वह पुरुष समस्त पृथिवी में व्याप्त है और इससे परे भी है । यह कहने का यह अभिप्राय है कि वह ससीम रूप में पूरी सृष्टि में व्याप्त है किन्तु असीम रूप में सृष्टि से बाहर भी है । वह सृष्टि के रूप में व्यक्त है और सृष्टि से परे जो उसका स्वरूप है वह अव्यक्त है ।

सूक्त की दूसरी ऋचा इस प्रकार है—

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है कि जो कुछ हो चुका है या होने वाला है वह पुरुष ही है । वह अमृत का भी स्वामी है और उनका भी स्वामी है जो अन्न से बढते हैं ।

भूत और भविष्य से काल का बोध होता है । अभिप्राय यह है कि जो भी काल से बँधा है वह पुरुष ही है । वस्तुत पुरुष ही जगत् के रूप में परिणत हुआ है और सारा जगत् काल से बँधा हुआ है इसलिए समस्त जगत् पुरुष ही है । अमृत नाम प्राण का है । अन्न से शरीर बढता है । प्राण के स्वामी के रूप में पुरुष अक्षर कहलाता है । शरीर के रूप में वही पुरुष क्षर कहलाता है । आज की भाषा में कहें तो वह पुरुष ऊर्जा का भी स्वामी है और पदार्थ का भी स्वामी है ।

तीसरी ऋचा इस प्रकार है

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुष ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ॥

ऋचा का शब्दार्थ यह है कि पुरुष की ऐसी महिमा है और पुरुष इससे भी अधिक बडा है। ये समस्त भूत उसके अश मात्र है । उसके तीन पाद अमृत रूप हैं जो द्यौ में हैं । अभिप्राय यह है कि जितनी ऊर्जा और पदार्थ है वह तो पुरुष का एक बहुत छोटा सा हिस्सा है । उसका बहुत बडा भाग तो मन रूप अव्यय पुरुष है । उससे भी बडा कहीं निसीम परात्पर है । हम तो क्षर और अक्षर पुरुष का ही ओर छोर नहीं जान पाते फिर अव्यय पुरुष और परात्पर पुरुष की तो बात ही क्या ?

क्षर अक्षर और अव्यय पुरुष का रूप पिछले पाठ में बता चुके हैं । अव्यय पुरुष मन-प्रधान है अक्षर प्राण प्रधान है और क्षर भूत-प्रधान है । अक्षर ने क्षर पुरुष द्वारा सृष्टि बनाई । अव्यय पुरुष केवल आलम्बन के रूप में द्रष्टा ज्ञाता बना रहा । अक्षर क्षर की अपेक्षा सूक्ष्म है अक्षर की अपेक्षा अव्यय सूक्ष्म है परात्पर तो देशकाल से परे होने के कारण चिन्तन अथवा वाणी का विषय ही नहीं बन पाता ।

चतुर्थ ऋचा—

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुन ।

ततो विष्वङ व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥

शब्दार्थ यह है कि इस पुरुष के तीन पॉव तो ऊपर रहे एक पॉव इस विश्व में व्याप्त हो गया । वह जड और चेतन सबमें व्याप्त हो गया । अभिप्राय यह है कि उस पुरुष का बहुत बडा भाग सृष्टि रूप में परिणत हुआ । दूसरी बात महत्वपूर्ण यह है कि वह पुरुष केवल चेतन रूप में ही परिणत नही हुआ जड रूप में भी परिणत हो गया । जड और चेतन में मौलिक भेद नहीं है दोनों पुरुष के ही रूप हैं ।

पाचवी ऋचा—

तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुष ।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुर ॥

शब्दार्थ यह है कि उस पुरुष से विराट उत्पन्न हुआ तथा उस विराट से पुरुष उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होते ही वह भूमि का और पुर का अतिक्रमण कर गया । विराट का अर्थ है प्रकृति । पुरुष स्वराट है प्रकृति विराट । प्रकृति पुरुष से भिन्न नहीं है पुरुष स ही उत्पन्न हुई । फिर इस प्रकृति से व्यष्टि पुरुष उत्पन्न हुआ । इस व्यष्टि पुरुष ने ही पृथिवी को और पुर को धारण किया ।

छठी ऋचा—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म: शरद्धवि: ॥

शब्दार्थ बहुत स्पष्ट है । देवताओं ने पुरुष को हवि बनाकर यज्ञ किया । इस यज्ञ में वसन्त घृत बना । ग्रीष्म समिधा बनी और शरद् हवि बनी ।

यज्ञ सर्जन का प्रतीक है । सर्जन में स्निग्धता रूक्षता और तटस्थता तीनों की आवश्यकता रहती है । यहाँ घृत स्निग्धता का प्रतीक है समिधा रूक्षता का प्रतीक है और हवि तटस्थता का प्रतीक है । स्निग्ध आकृष्ट करता है रूक्ष विकर्षण करता है और तटस्थ मध्यस्थ बना रहता है । इन तीनों भावों से मिलकर सृष्टि चल रही है । प्रकृति के ऋतु चक्र में वसन्त में आकर्षण है इसलिए यहा वसन्त को घृत बताया गया है ग्रीष्म में रूक्षता है इसलिए ग्रीष्म को समिधा बताया गया है और शरद् में मध्यस्थता है इसलिए शरद् को हवि बताया गया है । आज के विज्ञान की भाषा में इन्हें पोजीटिव निगेटिव और न्यूट्रल कह सकते हैं । इन तीनों से ही सृष्टि चल रही है ।

सातवी ऋचा—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रत: ।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥

शब्दार्थ यह है कि उस पुरुष रूप यज्ञ को बर्हि पर सिञ्चित किया गया । देवताओं तथा साध्य ऋषियों ने उससे यज्ञ किया । अभिप्राय यह है कि पुरुष समस्त प्रजा में व्याप्त हो गया । बर्हि का अर्थ है प्रजा अर्थात् मनुष्य पशु और वनस्पति । ऋषि और देव दोनों प्राण ही हैं । ऋषि अव्यक्त है देव व्यक्त है । इन दोनों प्रकार के प्राणों ने सृष्टि प्रक्रिया में योगदान दिया क्योंकि प्राण के बिना गति नहीं है और बिना गति के सृष्टि नहीं हो सकती ।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत: सम्भृतं पृषदाज्यम् ।

पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥

शब्दार्थ यह है कि इस यज्ञ से जिसमें सब कुछ आहुत हो गया घृत उत्पन्न हुआ । घृत का अर्थ है जीवन का प्रारम्भ बिन्दु । उस यज्ञ से ही जीवन प्रारम्भ हुआ । तीन प्रकार के पशुओं में ग्राम्य पशु पञ्चभूत का नाम है वायव्य पशु प्राण हैं और आरण्यक पशु मन हैं । ये भूत प्राण और मन मिलकर ही जीवन बनाते हैं ।

नवी ऋचा—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

शब्दार्थ यह है कि उस यज्ञ से ऋक् और साम पैदा हुए छन्द पैदा हुए तथा यजु उत्पन्न हुआ। यहाँ ऋक् का अभिप्राय समस्त मूर्त पदार्थ है। साम का अभिप्राय उन मूर्त पदार्थों का आभामण्डल है। छन्द का अभिप्राय पदार्थों की आकृति है और यजु का अभिप्राय गति है। ये चारों मिलकर ही सृष्टि के पदार्थों को बनाते हैं।

दसवी ऋचा—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत ।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ॥

शब्दार्थ यह है कि उस यज्ञ से अश्व उत्पन्न हुए। मे पशु उत्पन्न हुए, जिनके ऊपर नीचे दोनों ओर दाँत हैं तथा भेड और बकरिया भी पैदा हुई। यहाँ अश्व गति का सूचक है। इन्द्र भी गति का सूचक है इसलिए इन्द्र को अश्व प्रिय है। गौ आगति का सूचक है। विष्णु भी आगति का सूचक है इसलिए विष्णु को गौ प्रिय है। ये दोनों गतियां जब मन्द होती हैं तो मेष के द्वारा सूचित होती है तीव्र होने पर अजा के द्वारा सूचित होती हैं। इन गतियों का सन्तुलन पुरुष में होता है।

ग्यारहवी ऋचा—

यत्पुरुष व्यदधु कतिधा व्यकल्पयन् ।

मुख किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥

सृष्टि में विविधता है एक ही प्रकार के पुरुष से सृष्टि की विविधता नहीं बन सकती इसलिए इस ऋचा में सृष्टि की विविधता को लक्ष्य करके प्रश्न उठाया गया कि

पुरुष का कितने भागों में विभाजन किया गया ? उसका मुख क्या बना ? भुजाए क्या बनीं ? जघाएं क्या बनीं ? और पांव क्या बने ? प्रश्न के उत्तर में बारहवीं ऋचा प्रस्तुत की गई

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृत ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥

शब्दार्थ है—उस पुरुष का मुख ब्राह्मण बना भुजाए क्षत्रिय बनी। जघाए वैश्य बनी और पाव से शूद्र उत्पन्न हुआ।

स्पष्ट है कि ज्ञानन्द्रियों का मूल मुख है। मुख से उत्पन्न होने वाला ब्रह्मतेज ज्ञान-प्रधान है। कर्म-प्रधान क्षत्रवर्ण बाहु से सूचित होता है। पदार्थों को इधर उधर व्यापार के लिये ले जाना वैश्य का काम है। इसलिए उसका ऊरु से सम्बन्ध है। समस्त समाज के आधारभूत पदार्थों को उत्पन करने वाला शूद्र पाँव से सूचित होता है। यह वर्ण व्यवस्था केवल मनुष्यों में नही है पशु और औषधियों में भी यह वर्णव्यवस्था मिलती है।

तेरहवी ऋचा—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥

शब्दार्थ है चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ सूर्य चक्षु से उत्पन्न हुआ। मुख से चन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए। प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

मन अव्यय पुरुष का प्रतीक है सूर्य प्राण है मुख वाक् है। प्राण ही अक्षर पुरुष है वाक् ही क्षर पुरुष है। इस प्रकार इस ऋचा में मन प्राण वाक् तथा अव्यय अक्षर और क्षर का सकेत मिलता है।

चौदहवी ऋचा—

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत।

पद्भ्या भूमिर्दिश श्रोत्रातथा लोकाँ अकल्पयन्॥

शब्दार्थ है—नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ शिर से द्यौ पाँव से भूमि तथा श्रोत्र से दिशाए। इस प्रकार समस्त लोक बने। यहाँ पुरुष के सर्वोपरि भाग शिर से द्यौ मध्य भाग नाभि से अन्तरिक्ष और निम्न भाग पाव से भूमि की उत्पत्ति बताई गई है। इससे तीन लोकों की भिन्नता भी सूचित होती है और अभिन्नता भी। वे एक ही पुरुष के तीन भाग हैं इसलिए अभिन्न हैं किन्तु वे पुरुष के भिन्न भिन्न भागों से सम्बद्ध हैं इसलिए भिन्न भी हैं।

पन्द्रहवी ऋचा—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रि सप्त समिध कृता।

देवा यद्यज्ञ तन्वाना अबध्नन् पुरुष पशुम्॥

शब्दार्थ यह है कि उस यज्ञ की सात परिधि थी और इक्कीस समिधाए थी। उस यज्ञ में देवताओं ने पुरुष को पशु बनाकर बाधा।

सात परिधियाँ मन प्राण और पञ्चभूत हैं। इनके बिना जीवन नहीं टिक सकता। भू भुव स्व मह जन तप और सत्यम् ये सात लोक भी सात परिधियाँ है। ये सात परिधियाँ अव्यय अक्षर और क्षर तीन पुरुषों से गुणित हाकर इक्कीस समिधाए बन जाती है। इन्हीं के बीच समस्त सृष्टि समाई है। यहाँ पुरुष को पशु बताया है। पुरुष अमृत है पशु मर्त्य है। दोनों के सयोग से सृष्टि बनती है। यह पुरुष पशु काल के स्तूप में बान्धा जाता है।

सोलहवी ऋचा -

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

यह सृष्टि यज्ञ देवताओं ने सम्पन्न किया। ऋचा का शब्दार्थ इस प्रकार है—देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ सम्पन्न किया। यह प्रथम धर्म था। उन्होंने स्वर्ग को प्राप्त किया जहाँ साध्य देव निवास करते है। अभिप्राय यह है कि सृष्टि में दो प्रकार के यज्ञ चल रहे है, प्राणयज्ञ और भूतयज्ञ। प्राणयज्ञ से ज्ञान उत्पन्न होता है भूत यज्ञ से पदार्थ।

प्राण यज्ञ देवता करते हैं, भूतयज्ञ प्रजा। प्राणयज्ञ अमूर्त है, भूतयज्ञ मूर्त। यज्ञ के प्रभाव से देवता पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों को पार कर के स्वर्ग लोक में चले गये। यही यज्ञ की महिमा है।

प्रश्न

१ पुरुष के सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष और सहस्रपाद कहने का क्या अर्थ है ?
२ पुरुष का एक पाद विश्व में है तीन पाद द्यो में यह कहने का क्या अभिप्राय है ?
३ पुरुष से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ?
४ सृष्टि के लिए पुरुष को यज्ञ क्यों करना पड़ा ?

स्मरणीय उद्धरण

सम्पूर्ण पुरुष सूक्त। इस सूक्त का पाठ सभी मागलिक अवसरों पर किया जाता है।

षोडश पाठ

यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय)

मन्त्र

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेद के किसी भी मन्त्र के प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण होता है । ओम् ब्रह्म का वाचक है । इसमें तीन वर्ण हैं अकार उकार तथा मकार के अनन्तर एक चतुर्थ वर्ण भी है जो अर्ध मात्रा रूप है इसलिए वह सुनाई नहीं पड़ता । हमनें पञ्चदश पाठ में पुरुष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तथा पुरुष सूक्त व्याख्या में भी पुरुष के चार पादों की चर्चा की है ।

ओंकार के ये चार वर्ण उन चारों पदों के सूचक हैं ।

अकार	अव्यय पुरुष
उकार	अक्षर पुरुष
मकार	क्षर पुरुष
अर्धमात्रा	परात्पर

इस प्रकार ओम् ब्रह्म के चारों पादों का सूचक है । इनमें प्रथम अकार को लें । अकार का ऊष्मा भाग विकास को बतलाता है स्पर्श भाग सङ्कोच को बताता है । विकास अग्नि है सङ्कोच सोम । इन दो के मिश्रण से पूरी सृष्टि बनी है । जिस प्रकार अर्थसृष्टि अग्नि और सोम से बनी है उसी प्रकार सारी शब्द सृष्टि भी स्पर्श तथा ऊष्मा के सयोग से बनी है । इसलिए ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि अकार से ही सब शब्द बने हैं—अकारो वै सर्वा वाक् । अकार की इसी महिमा के कारण गीता में भगवान् ने स्वय को अकार बताया है अक्षराणामकारोऽस्मि । अकार असङ्ग है इसलिए इसे अव्यय पुरुष के रूप में माना गया है ।

उकार में मुख का सङ्कोच होता है । यह ससङ्गासङ्ग है । न यह अकार की तरह पूरी तरह असङ्ग है न मकार की तरह पूरी तरह ससङ्ग है । यह अक्षर पुरुष का वाचक है ।

मकार क्षर पुरुष है । इसमें मुख का सर्वथा सङ्कोच हो जाता है । इसके अनन्तर अर्धमात्रा परात्पर की सूचक है । इसमें शास्त्र की गति नहीं । इस प्रकार ओम् समस्त वेदों का सार है । क्योंकि

यह पूर्ण ब्रह्म का वाचक है। समस्त तप और ब्रह्मचर्य का पालन इस ओम् की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है।

शास्त्र के प्रारम्भ में पर ब्रह्म के वाचक ओम् का उच्चारण करने के अनन्तर शास्त्र कहता है वह भी पूर्ण है यह भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है और पूर्ण में से पूर्ण निकल जाने के बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है। यहा वह परोक्ष को बताता है यह प्रत्यक्ष को। ईश्वर परोक्ष है, जीव प्रत्यक्ष है। ईश्वर की पूर्णता तो प्रसिद्ध है किन्तु जीव भी पूर्ण ही है। कारण यह है कि जीव ईश्वर का ही अश है और यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसका अश जीव भी अपूर्ण नहीं हो सकता। पूर्ण से जो भी उत्पन्न होगा पूर्ण ही होगा। अत जीव भी पूर्ण है। दूसरी पक्ति में कहा गया है कि यदि पूर्ण में से पूर्ण निकाल लिया जाय तो पूर्ण ही शेष रहता है। गणित का सिद्धान्त है कि पूर्ण में से पूर्ण के निकाल लेने पर पूर्ण में कोई अपूर्णता नही आती।

मन्त्र कहता है कि ईश्वर पूर्ण है। हम भी पूर्ण हैं क्योंकि हम ईश्वर के ही अश हैं। इस बात का अनेक तरह से समझा जा सकता है। हमारा व्यक्तित्व विश्व का प्रतिबिम्ब है। विश्व में पृथिवी है हम में शरीर। विश्व में चन्द्रमा है हम में मन। विश्व में सूर्य है हम में बुद्धि। विश्व में परमेष्ठी है हम में महत्। विश्व में स्वयम्भू है हम में अव्यक्त। इस प्रकार हम में पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व हो रहा है। विश्व पूर्ण है इसलिए हम भी पूर्ण है। एक अन्य दृष्टि से देखें तो हमारे अस्तित्व के तीन अग हैं—मन प्राण वाक्। अन्न से मन बना है आप से प्राण और तेज से वाक्। इस दृष्टि से भी हमारा व्यक्तित्व पूर्ण है।

जैसे ही हमें अपनी पूर्णता का ज्ञान होता है वैसे ही त्रिविध शान्ति सामने आ जाती है क्योंकि अशान्ति अपूर्णता से होती है पूर्णता में नही। आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक इस तीन प्रकार की शान्ति का सूचक मन्त्र है—ओं शान्ति। शान्ति। शान्ति॥

उपर्युक्त मङ्गल मन्त्र के साथ ईशोपनिषद् जो कि यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय है प्रारम्भ होता है। उस उपनिषद् का प्रथम मन्त्र है

ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्॥

मन्त्र का शब्दार्थ है—जगत् में जो कुछ भी चराचर है वह ईश्वर से व्याप्त है। जो कुछ ईश्वर से परित्यक्त है उसी का भोग करना चाहिये।

इस अर्थ को हम तीन पक्षों में घटित कर सकते हैं

१ लौकिक पक्ष २ धर्मपक्ष और ३ विज्ञानपक्ष।

१ लौकिक पक्ष

ईश का अर्थ है स्वामी। जगत् में जो कुछ चर या अचर है सबका कोई न कोई स्वामी है। जब तक वह स्वामी स्वयं ही तुम्हें कोई पदार्थ न दे हमें उस पदार्थ का नहीं भोगना चाहिये। अर्थात् हमें उस चीज को भोगने का अधिकार नहीं है जिस पर दूसरे का स्वामित्व है। यदि हम उसे भोगेंगे तो वह चोरी कहलायेगा और उसका फल होगा राजदण्ड। यह इस मन्त्र का लौकिक अर्थ हुआ। यह राजदण्ड हमारे स्थूल शरीर को भोगना पडता है। इसलिए लौकिक पक्ष में हमें यह मन्त्र सावधान करता है कि हम चोरी करके राजदण्ड के भागी न बनें।

२ धार्मिक पक्ष

धार्मिक दृष्टि से भी हमें उस वस्तु का भोग नहीं करना चाहिये जिस पर दूसरे का अधिकार हो,किन्तु इस सन्दर्भ में राजनीति और धर्म में थोडा सा अन्तर है। राजनीति में हम किसी व्यक्ति का किसी पदार्थ पर से अधिकार बलपूर्वक भी हटा देते हैं। पुलिस की भाषा में इसे बेदखल या कुडकी करना कहते हैं। किन्तु धर्म के क्षेत्र में बल प्रयोग को स्थान नहीं है। कुल मिलाकर तीन स्थितियां बनती हैं

१ पदार्थ पर न्यायतः अधिकार हमारा है किन्तु दूसरा उस पर अन्यायपूर्वक अधिकार जमाये हुए है। हम बल प्रयोग द्वारा अपने अधिकार को प्राप्त कर लेते हैं। यह धर्ममूलक राजनीति है।

२ न्यायतः वस्तु दूसरे की है किन्तु हम बलपूर्वक उस पर अपना अधिकार कर लेते हैं। यह अधर्ममूलक राजनीति है।

३ वस्तुतः पदार्थ हमारा है किन्तु हम दूसरे को समझा बुझाकर ही उससे वह पदार्थ लेते हैं, बलपूर्वक नहीं। यह विशुद्ध धर्म नीति है।

पहली स्थिति में यद्यपि हम अपने अधिकार के लिए ही बल का प्रयोग करते हैं तथापि जिसके प्रति हम बल प्रयोग करते हैं वह सदा हमारे प्रति वैर भाव रखता है और इस कारण हमारा सूक्ष्म शरीर सदा आतङ्कित रहता है,भले ही हमारा स्थूल शरीर दण्डित न हो। यह मध्यम मार्ग है। दूसरा अधर्म मूलक राजनीति का मार्ग अधर्म है। इससे भले ही प्रारम्भ में कुछ लाभ हो किन्तु अन्त में मनुष्य समूल नष्ट हो जाता है। अतः उत्तम मार्ग तीसरा धर्मनीति का ही है।

३ वैज्ञानिक पक्ष

समस्त पदार्थ ईश्वर से व्याप्त है। जो पदार्थ का अपना स्वरूप है वह ब्रह्मौदन है। हम उसे नहीं भोग सकते। जो भाग पदार्थ का अपना हिस्सा नहीं होता वह उसके द्वारा छोड दिया जाता है। वह प्रवर्ग्य है। उसे ही उच्छिष्ट या यज्ञशेष भी कहते हैं। हमारा अधिकार इस यज्ञशेष पर ही है ब्रह्मौदन पर नहीं।

ब्रह्मौदन को समझने के लिए यह समझ लेना चाहिये कि किसी पदार्थ या दूसरे पदार्थ से दो प्रकार का सम्बन्ध होता है—अन्तर्याम और बहिर्याम। अन्तर्याम सम्बन्ध में वह पदार्थ दूसरे पदार्थ का अभिन्न अंग बन जाता है। यही ब्रह्मौदन है। जो जिसका ब्रह्मौदन बन गया उसका उस पर अधिकार हो गया। यदि हम उसे लेते हैं तो भले ही हमारा स्थूल शरीर दण्ड का भागी न बनें, कारण-शरीर दण्ड का भागी बनता है।

हमने जो प्रारम्भ में कहा कि पृथिवी से हमारा शरीर बना चन्द्रमा से मन सूर्य से बुद्धि परमेष्ठा से महत् और स्वयम्भू से अव्यक्त। उन उन लोकों के प्रवर्ग्य से ही हमारा व्यक्तित्व बना है। जो अंश स्वयम्भू इत्यादि का ब्रह्मौदन बन गया वह स्वधा कहलाता है। स्वधा का अर्थ है देवताओं का अन्न। उदाहरणतः सूर्य का स्वरूप बनाने में कुछ ताप का अंश आ जाता है किन्तु जो ताप सूर्य का प्रवर्ग्य है उसे ही हम भोगते हैं। जो अंश सूर्य का हिस्सा बन गया वह सूर्य का मस्तक है। उससे कटकर जो हम तक आया वह प्रवर्ग्य है इसलिए इसे छिन्नशीर्षयाग कहा जाता है।

यहाँ समस्त सृष्टि में ईश्वर के अनुस्यूत होने की बात कही गई है। जो जिस क्रिया को करता है वह अपने मन की इच्छा प्राण, तप और वाक् के कर्म द्वारा उसमें प्रविष्ट हो जाता है। उदाहरणतः ग्रन्थ लेखक की कामना चिन्तन रूप अन्तर्व्यापार और लेखन रूप बहिर्व्यापार तीनों उसके ग्रन्थ में अनुस्यूत रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि का कर्ता ईश्वर भी सृष्टि में अनुस्यूत है।

प्रकृति में सभी प्रवर्ग्य को भोग रहे हैं ब्रह्मौदन को कोई नहीं भोगता। यह तो पहले ही बतला चुके हैं कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण कर देता है और इसलिए मनुष्य के लिए शास्त्रोपदेश की आवश्यकता है। हम प्रवर्ग्य को भोगते हैं। यह भोग है। किन्तु यदि हम ब्रह्मौदन को भोगना चाहते हैं तो यह आसक्ति है। बन्धन का कारण योग नहीं आसक्ति है। यज्ञीय जीवनशैली में आसक्ति नहीं होती इसलिए गीता में कहा है कि सब कर्म बन्धन का कारण है किन्तु यज्ञ के लिए किया जाने वाला कर्म बन्धन का कारण नहीं है—यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

प्रश्न

१ ओम् का क्या महत्व है ?
२ हम किस प्रकार यह कह सकते हैं कि हम पूर्ण हैं ?
३ राजनीति और धर्मनीति में क्या अन्तर है ?
४ ब्रह्मौदन तथा प्रवर्ग्य का क्या अर्थ है ?

स्मरणीय उद्धरण

यजुर्वेद का पूरा चालीसवा अध्याय जिसे ईशोपनिषद् भी कहा जाता है। यह वेदान्त दर्शन का मूल है।

सप्तदश पाठ

यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय—मन्त्र २-३)

दूसरा मन्त्र—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

प्रथम मन्त्र में कैसे भोगें और क्या भोगें—यह चर्चा की गई थी। भोगना मन का कार्य है। इस दूसरे मन्त्र में क्या करें और कैसे करें? इसकी चर्चा है। कर्म प्राण का कार्य है।

मन्त्र का शब्दार्थ है—१०० वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिये अर्थात् जन्म से मृत्यु पर्यन्त निरन्तर कर्म करने चाहिये। इस प्रकार निरन्तर कर्म करने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। ऐसा करने से कर्म मनुष्य को लिप्त नही करते।

कर्म तीन प्रकार के हैं—१ वे कर्म जिन्हें करने के लिए हम किन्हीं के द्वारा नियुक्त कर दिये गए हैं। ये कर्म अधिकृत कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों का सम्बन्ध हमारे स्थूल शरीर से है। २ वे कर्म जिन्हें हमें प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार करना चाहिये। ये धार्मिक कर्म कहलाते हैं। इनका सम्बन्ध हमारे सूक्ष्म शरीर से है। ३ वे कर्म जिनका सम्बन्ध हमारी आत्मा के स्वरूप से है। ये आत्मीय कर्म कहलाते हैं। इनका सम्बन्ध हमारे कारण शरीर से है।

हमारे अधिकृत कर्म समाज शास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा निर्धारित कर दिये जाते हैं। इनका पालन हमें यावज्जीवन करना चाहिये। ऐसे कर्मों का दायित्व उन पर होता है जो उस कर्म को करने का आदेश देता है। जो आज्ञा का पालन करता है उसके लिए कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते। उदाहरणत: यदि कोई वधिक शासन की आज्ञा से किसी को फासी पर चढाता है तो उसे हत्या का पाप नहीं लगता है क्योंकि वह वधिक अपने अधिकृत कर्म को करता है। अधिकृत कर्म में न कोई छोटा है न बडा। वहां केवल एक मर्यादा है कि जहा हमें जिस कर्म में नियुक्त किया जाय वही करें अपने मन से कुछ न करें। उदाहरणत: यदि वधिक शासन की आज्ञा से किसी को फाँसी देते समय फॉसी देने के अतिरिक्त फाँसी देने से पूर्व अपराधी को एक चपत भी लगा देगा तो दण्ड का भागी होगा क्योंकि उसे यह कर्म करने लिए आदेश नहीं दिया गया है किन्तु क्योंकि उसे फॉसी देने का आदश दिया गया है इसलिए फॉसी देने के बदले उसे कोई दण्ड नहीं मिलेगा। वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था का यही रहस्य है कि जो कर्म करने की आज्ञा शास्त्र हमें देता है यदि हम उसी कर्म को करते हैं, तो दण्ड के भागी नहीं बनते। इतना ही नहीं, शास्त्रादेश से कर्म करने वालों में न कोई छोटा है न बडा।

धार्मिक कर्म

शास्त्र की दृष्टि से कर्म का विभाजन तीन प्रकार का है—शास्त्र-सम्मत कर्म शास्त्र-विरुद्ध कर्म और ऐसे कर्म जिनका न शास्त्र में विधान है न निषेध। इनमें शास्त्र सम्मत कर्म भी तीन प्रकार के हैं। १ विद्यासमुच्चित निष्काम कर्म २ विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति कर्म ३ विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म। विद्या समुच्चित निष्काम कर्म वे हैं जो बुद्धि का साधन है। उदाहरणत ध्यान धारणा समाधि। इनका सम्बन्ध मनप्रधान कारण शरीर से है। विद्या समुच्चित प्रवृत्ति कर्म तीन हैं—यज्ञ तप और दान। इनका फल स्वर्ग है और इनका सम्बन्ध प्राणप्रधान सूक्ष्म शरीर से है। विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म भी तीन हैं—इष्ट, आपूर्त और दत्त। ये कर्म पितृलाक में ले जाने वाले हैं। यहाँ यह समझना चाहिये कि यज्ञ श्रौतकर्म हैं इष्ट स्मार्त कर्म हैं आपूर्त बाग बनवा देना कुआ बावडी बनवा देना इत्यादि लोक कल्याण के कर्म है दान विद्वान् को दिया जाने वाला धन है दत्त जरूरत मन्द को दिया जाने वाला धन है। इन कर्मों का वाक्प्रधान स्थूल शरीर से सम्बन्ध है।

मुक्ति के साधक कर्म आत्मीय कर्मों की कोटि में आयेंगे। विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति कर्म और विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म धार्मिक कर्म है। शेष बचे हुए सभी कर्म या तो निरर्थक हैं या शास्त्रविरुद्ध। निरर्थक कर्म अकर्म कहलाते हैं। वे न करने योग्य हैं। शास्त्रविरुद्ध कर्म विकर्म कहलाते हैं। वे पाप के बन्धन का कारण हैं।

लौकिक कर्मों का निर्धारण राजनेता या सामाजिक पुरुष करते हैं। धार्मिक कर्मों का निर्धारण ईश्वर करता है। राजनेता अथवा सामाजिक पुरुष पञ्च हैं क्योंकि ये कर्म का निर्धारण करते हैं। इसलिए पञ्चों को परमेश्वर कहा जाता है। अन्तर इतना है कि पञ्च बाहर से नियन्त्रण करते हैं ईश्वर अन्दर से नियन्त्रण करता है। बाहरी नियन्त्रण बदलते रहते हैं। आन्तरिक नियन्त्रण शाश्वत हैं। यह शाश्वत नियन्त्रण ही नियति कहा जाता है। उदाहरणत पानी का नीचे की ओर बहना तथा अग्नि का ऊपर की आर न्ना उनकी नियति है और यह अटल है।

इस सन्दर्भ में यह जान लेना चाहिय कि श्रुति ईश्वर का वचन है। स्मृति सामाजिक पुरुषों का वचन है। इसलिए श्रौत धर्म शाश्वत हैं स्मार्त धर्म परिवर्तनशील हैं। स्वय स्मृति ही कहती है कि अलग अलग युग का अलग अलग धर्म है। कृतयुग का धर्म तप है। त्रेता का धर्म ज्ञान है। द्वापर का धर्म यज्ञ है। कलियुग का धर्म दान है

तप पर कृतयुगे त्रेताया ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेक कलौ युगे॥

इसका अर्थ यह है कि शाश्वत धर्म का प्रतिपादन तो श्रुति में होता है किन्तु उस धर्म में कौन सा धर्म अधिक उपयुक्त है इसका विवेचन स्मृतिकार करते हैं और इस प्रकार श्रौत स्मार्त धर्म सनातन होते हुए भी युगानुकूल बना रहता है। यही वैदिक धर्म की विशेषता है। यदि हम उसमें युगानुरूप परिवर्तन नहीं लायेंगे तो वह धर्म रुके हुए पानी की तरह सड जायेगा।

आत्मीय कर्म

माया ईश्वर की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में सदा अभेद रहता है। माया का ही दूसरा नाम कर्म है। जो कर्म आत्मा के स्वभाव हैं वे कर्म आत्मीय कर्म कहलाते हैं। हमारे मन में अनेक इच्छाए उत्पन्न होती रहती हैं और हम उन इच्छाओं से प्रेरित होकर कर्म करते रहते हैं। व सभी कर्म आत्मीय नही होते। यदि हम मन की इच्छा पर बुद्धि का नियत्रण रखते हैं ता कृत्रिम इच्छाओं को बलवान् होने का अवसर नहीं मिलता है। जो इच्छाए सहज होती हैं उनस प्रेरित होकर किये गये कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। एक उदाहरण लें। सच्ची भूख लगने पर खाने की इच्छा सहज इच्छा है। यह इच्छा बन्धन का कारण नही। किन्तु भूख न होने पर भी खाने की इच्छा किसी ईश्वरेच्छा का अग नहीं है। चटपटे पदार्थों को देखकर खाने की इच्छा जीवेच्छा है। जीवच्छा ही बन्धन का कारण है ईश्वरेच्छा नहीं। वस्तुत आत्मीय कर्म तो स्वय भगवान् कृष्ण भी करते थे। उन्होंने गीता में कहा है कि मुझे अब कुछ भी प्राप्त करना शप नही है। फिर भी मैं कर्म करता हूँ—नानाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि।

इनमें अधिकृत कर्म करने से समाज की व्यवस्था बनी रहती है धार्मिक कर्म करने से आन्तरिक शान्ति बनी रहती है और आत्मीय कर्म से मन को शुद्धि होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन तीनों में कोई भी कर्म बन्धन का कारण नही। इसलिए उन्हें यावज्जीवन करना चाहिये। यदि हम अधिकृत कर्म नही करेंगे तो अव्यवस्था होगी और हमारा अपयश भी होगा। धार्मिक कर्मों को छोड देने पर हमारा मन अशान्त रहेगा तथा आत्मीय कर्मों के अभाव में वासना की पकड मजबूत हो जायेगी। इसलिए ये तीनों कर्म ही करते रहने चाहिये।

तीसरा मन्त्र

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।

ताँस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना॥

प्रथम मन्त्र में जहा ज्ञानप्रधान मन को केन्द्र में रखा था और द्वितीय मन्त्र में कर्मप्रधान प्राण को केन्द्र में रखा गया वहाँ इस तृतीय मन्त्र में अर्थप्रधान आवरण का केन्द्र में रखा गया है।

शब्दार्थ है—जो आत्मघाती जन है वे मरण के अनन्तर उन लोकों में आते हैं जो गहरे अन्धकार स घिरे हं और जहा सूर्य नही है या जिन लोगों का सम्बन्ध असुरों से है।

आत्मा के तीन घटक हैं—वाक् अथवा स्थूल शरीर प्राण अथवा सूक्ष्म शरीर मन अथवा कारण शरीर। इन तीनों का हनन ही आत्मघात है।

स्थूल शरीर का हनन

सामाजिक अथवा राजनैतिक दृष्टि से जो व्यक्ति किसी के स्थूल शरीर की हत्या करता है उसे कारावास में डाल दिया जाता है। जिसको गहरा अन्धकार होने के कारण काल कोठरी कहा जाता है।

दोष तीन प्रकार के हैं। पहला दोष ग्रहजन्य है। जैसी ग्रहों की स्थिति होती है वैसा ही व्यक्ति का स्वभाव हो जाता है। उसका वह स्वभाव छूटता नहीं। यद्यपि हम उसे उस स्वभाव के लिए दण्डित करते रहते हैं। इसलिए गीता में कहा गया है प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति।

दूसरे प्रकार के दोष वे हैं जो कुसङ्गति के कारण होते हैं।

तीसरा दोष मुग्धभाव से उत्पन्न होने वाला दोष है। जैसे न चाहते हुए भी असावधानी वश हमारे पाँव की ठोकर किसी को लग जाए। ऐसे अनजाने में किये गये अपराध का दण्ड हलका ही होना है कठोर नहीं।

वस्तुत दण्ड का विधान द्वितीय प्रकार के अपराधों के लिए है जो निम्न पाच कारणों से उत्पन्न होते हैं

१ सुरा अर्थात् शराब

२ मन्यु अर्थात् गुस्सा

३ बिभीतक अर्थात् जुआ

४ अचित्ति अर्थात् नासमझी

५ अस्ति ज्यायान् कनीयस—अर्थात् किसी ऐसे व्यक्ति के दबाव में गलत काम करना जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध होने की सम्भावना हो।

इन पाँच कारणों से किये जाने वाले अपराध के बदले में व्यक्ति को ऐसे कारावास में रहना पडता है जहाँ अन्धकार रहता है।

अपराधी को अन्धेरे कारावास में रखने का एक कारण है। जो भी अपराध करता है वह आत्म ज्योति का तिरस्कार करता है इसलिए वह प्रकाश का अधिकारी नहीं रहता। ज्योतियां पाँच हैं। दिन में सूर्य ज्योति है। रात्रि में चन्द्रमा ज्योति है। यदि चन्द्रमा भी न हो तो अग्नि ज्योति है। अग्नि के भी अभाव में चौथी ज्योति वाक् है। जहा वाक् भी नहीं रहती वहाँ पाँचवी ज्योति आत्मा अपना काम करती है। जब हम कोई अपराध करते हैं तो पाँचवी ज्योति आत्मा हमें अपराध करने से रोकती है किन्तु हम उस आत्म ज्योति का तिरस्कार करके वह पाप करते हैं। फल होता है कि हम ज्योति के अधिकारी नहीं रह जाते। अत ऐसे व्यक्ति को अन्धेरे कारागार में रखना ही उचित है।

आत्महनन का एक दूसरा रूप है—आत्महत्या। आत्महत्या करने वाले व्यक्तियों को हम दण्डित नहीं कर सकते। क्योंकि उसका शरीर दण्डित करने के लिए शेष ही नहीं रहता किन्तु उसे

भी अपराध का दण्ड अवश्य मिलता है। उसका सूक्ष्म शरीर अन्धकारपूर्ण अर्थात् अज्ञान में तथा देह दु ख भरी योनियों में चला जाता है।

यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के दण्ड की बात हुई। स्थूल शरीर के दण्ड द्वारा समाज में व्यवस्था बनी रहती है। आत्महत्या का जो दण्ड सूक्ष्म शरीर को भोगना पडता है वह स्थूल शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक भयङ्कर है क्योंकि उससे परलोक में सुख की आशा समाप्त हो जाती है।

किन्तु सबसे अधिक भयानक दण्ड कारण शरीर को मिलता है। विज्ञान पक्ष में आत्मघात का अर्थ है कि सर्वत्र व्यापक आत्मा के होते हुए भी उसे न देख पाना। ऐसा माया के कारण होता है। असज्ञ जीवों में केवल वैश्वानर है तैजस और प्राज्ञ वहाँ व्यक्त नहीं हो पाये। वहाँ तमोगुण ही मुख्य है अत वहाँ आत्मा का सर्वाधिक हनन हुआ है। वहा सर्वाधिक अन्धकार भी है—यह प्रत्यक्षगोचर ही है। क्रमश अन्त सज्ञ में क्योंकि तैजस भाव भी जागृत हो जाता है इसलिए आत्म हनन का अश कम है, अत वहाँ अन्धकार भी अपेक्षाकृत कम है। किन्तु फिर भी वहाँ तमोगुण ही मुख्य है। आत्मा की ज्ञान-ज्योति ससज्ञ जीवों में अधिक प्रकाशित होती है क्योंकि वहाँ प्राज्ञ भी व्यक्त हो जाता है और इसलिए वहा तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण अधिक माना जाता है। यों तो ससज्ञों से भी ऊपर देवयोनियाँ हैं जिनमें सत्त्व गुण अधिक होने के कारण अन्धकार और भी कम है किन्तु जैसे कि हम पहले बता चुके हैं कि अन्धकार को सर्वथा भेदकर प्रकृति से पार जाने का सामर्थ्य केवल मनुष्य में ही है इसलिए शास्त्र का यह उपदेश कि आत्महनन न करें मनुष्य के लिए ही है। शेष योनियों में तो प्राणी अपनी अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हुए जितने अन्धकार या प्रकाश में रहता है वह नियत है और पुरुषार्थ द्वारा वह उसमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं कर सकता। जो मनुष्य भी प्रकृति के वशीभूत है, वह जन्म मरण के चक्कर में पडा रहता है। विज्ञान पक्ष में इस जन्म मरण के चक्कर को ही अन्धकारमय असुर लोक कहा गया है जो माया के आवरण से ढका है। जो इस माया के आवरण को भेद देता है वही जन्म मरण के अन्धकारमय असुरलोक से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न

१ कर्म कितने प्रकार के है ?
२ धार्मिक कर्म कितने प्रकार के हैं ?
३ आत्मीय कर्म का क्या अर्थ है ?
४ हम आत्म हनन किस प्रकार करते है ?
५ विज्ञान पक्ष में आत्मघात का क्या अर्थ है ?

स्मरणीय उद्धरण

षोडश पाठवत्

अष्टादश पाठ

यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय—मन्त्र ४-५)

चौथा मन्त्र

अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

तीसर मन्त्र में हमने जिस अन्धकार या आवरण की चर्चा की है उसका प्रवर्तक शुद्ध अव्यय नहीं हो सकता । उसका प्रवर्तक कौन है ? इसके उत्तर में यह मन्त्र कहता है कि यह तत्त्व निष्कम्प है, किन्तु मन से भी अधिक वेगशाली है । वह तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है । वह स्थित रहन पर भी सबका अतिक्रमण कर जाता है । उसी तत्त्व में मातरिश्वा आप को धारण करता है । यहा उस तत्त्व को कम्परहित होते हुए भी गतिशील बताया गया है । अव्यय पुरुष में रस भी है बल भी है विद्या भी है कर्म भी है अमृत भी है मृत्यु भी है । बल परिवर्तनशील है रस शाश्वत है । ज्ञान ही निष्कम्प है कर्म ही गतिशील है । ये दोनों एक ही सत्ता में रहते हैं । वेद जगत् को मिथ्या नहीं मानता बल्कि नाम और रूप को सत्य मानता है—*नामरूपे सत्यम्* । इस प्रकार अव्यय पुरुष में निष्कम्पता और गतिशीलता दोनों ही है । ईशोपनिषद् के ही आगे के मन्त्र में इस विषय का और विस्तार किया जायेगा । यहाँ केवल इतना जान लेना चाहिये कि जहा ज्ञान प्रधान है, वह ब्रह्म है जहाँ कर्म प्रधान है, वहाँ विश्व है । किन्तु ब्रह्म और विश्व परस्पर पृथक् नहीं है । इस निष्कम्प गतिशील तत्व के बारे में यह कहना उचित ही है कि वह सर्वत्र है और सबका अतिक्रमण किये हुए है क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह स्वत ही सबका अतिक्रमण किये रहता है ।

इस मन्त्र के चौथे पाद में कहा है कि उस तत्त्व में मातरिश्वा आप को धारण करता है । मातरिश्वा का अर्थ है सूत्रवायु । इस सूत्रवायु के कारण ही परमात्मा में कर्म या गति होती है । इस सूत्रवायु में आप की आहुति होती है । यही प्रथम यज्ञ है । इस विषय का स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

वेद में पाँच लोकों का वर्णन है । इनमें प्रथम स्वयम्भू है । इस स्वयम्भू से पैदा होने वाला परमेष्ठी है । वह परमेष्ठी आपोमय है । आप के दो भाग हैं—भृगु और अंगिरा । इनमें भृगु स्नेहशील है । यह भृगु घन रूप में आप है, तरल रूप में वायु है और विरल रूप में सोम है । भृगु का जो तरल रूप वायु है वह वायु चार प्रकार का है—१ प्राण जो

प्राणवायु को गति देता है । इनमें प्राणवायु पूर्व दिशा में है मातरिश्वा दक्षिण दिशा में पवमान पश्चिम दिशा में और सविता उत्तर दिशा में ।

ऊपर जिस चतुर्विध वायु का उल्लेख है उनमें प्राणवायु पवमान वायु और सविता वायु पिण्ड के महिमा मण्डल में रहते हैं केवल मातरिश्वा पिण्ड पर आश्रित है । यही मातरिश्वा उस आप में प्रविष्ट होकर उस तरल आप को घन बना देता है । इस प्रकार मातरिश्वा वायु के कारण ही तरल आप घन पृथिवी में बदल जाता है । मातरिश्वा का दूसरा नाम वराह भी है । यह वराह वायु ही आप का पिण्ड में बदलता है । इसलिए कहा जाता है कि वराहावतार विष्णु ने पृथिवी को जल से उबारा ।

हमने ऊपर स्थिति और गति की चर्चा की । ये दोनों एक दूसरे में ओतप्रोत हैं । अब अगले तीन मन्त्रों में इनका परस्पर सम्बन्ध बताया जायेगा । पाँचवें मन्त्र में कर्म में ब्रह्म है यह बताया जायेगा । छठे मन्त्र में ब्रह्म में कर्म की स्थिति बताई जायेगी और सातवें मन्त्र में यह बताया जायेगा कि ब्रह्म ही कर्म है । इनमें सबसे पहले पाँचवा मन्त्र लेते हैं —

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

इस मन्त्र में ब्रह्म को कर्म में स्थित बताया गया है । अव्यय पुरुष के दो ही प्रधान विवर्त हैं— ब्रह्म और कर्म । इनमें ब्रह्म का सम्बन्ध आनन्द,विज्ञान और मन से है कर्म का सम्बन्ध मन प्राण और वाक् से है । विश्वात्मा में ब्रह्म प्रधान है विश्व में कर्म प्रधान है । विश्व मन प्राण वाक् का समुच्चय है मन प्राण वाक् का नाम ही नाम रूप कर्म है । ईशोपनिषद् का वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

मन्त्र १ मनः प्रधान अव्यय पुरुष मन्त्र २ प्राण प्रधान अक्षर पुरुष मन्त्र ३ वाक् प्रधान क्षर पुरुष	← *ब्रह्म*
मन्त्र ४ प्रकृति (अव्यक्तात्मा)	*प्रकृति*
मन्त्र ५ कर्म में ब्रह्म मन्त्र ६ ब्रह्म में कर्म मन्त्र ७ कर्म और ब्रह्म का तादात्म्य	← *ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध*

मन्त्र ८ विकृति (शुक्रम्, व्यक्तात्मा)

मन्त्र ९ १० ११ विकार (विश्वात्मा) सूर्य (बुद्धि)

मन्त्र १२ १३ १४ विकार (विश्वात्मा) चन्द्रमा (मन)

मन्त्र १५ १६ १७ विकार (भूतात्मा) भोक्ता

मन्त्र १७ विकार (विश्वात्मा) पृथिवी (शरीर)

मन्त्र १८ विकार (सत्यात्मा) अग्नि

इस प्रकार ईशोपनिषद् में पुरुष और प्रकृति का ही विस्तार है । प्रस्तुत पाँचवें मन्त्र में कर्म में ब्रह्म की स्थिति बतलाई गई है । ब्रह्म कारण है । विश्व कार्य है । ब्रह्म और विश्व के सम्बन्ध को जानने के लिए यह समझ लेना चाहिये कि सम्बन्ध अठारह प्रकार के है —

(१) हेतु सम्बन्ध दीपशलाका से दीपक जलता है । दीपशलाका कारण है दीप शिखा कार्य है । इन दोनों के बीच हेतु सम्बन्ध है । दीपशलाका दीपज्वाला की साधक है किन्तु स्वय दीपज्वाला नहीं बनती ।

(२) निमित्त सम्बन्ध वायु से वृक्षादि में कम्प होता है अथवा मेघों में गति होती है । यहा वायु कारण है प्रेरणा कार्य है । इन दोनों में निमित्त सम्बन्ध है ।

(३) प्रकृति सम्बन्ध पक्षी उडने का कारण है । सर्प दश का कारण है । मृगशावक उछलने का कारण है । पुष्प गन्ध का कारण है । यहा कारण और कार्य के बीच प्रकृति सम्बन्ध है ।

(४) योनि सम्बन्ध मुह से शब्द करने पर एक तरङ्ग पैदा होती है । उस एक तरङ्ग से दूसरी तरङ्ग दूसरी तरङ्ग से तीसरी तरङ्ग तथा तीसरी तरङ्ग से चौथी तरङ्ग उत्पन्न होती है । यहा एक तरङ्ग दूसरी तरङ्ग की योनि है ।

(५) प्रारब्ध सम्बन्ध हमने पहले पाठ में बताया है कि रस से रक्त रक्त से मास इस क्रम में शरीर के सात अङ्ग बनते हैं । यहा रस रक्त का रक्त मास का कारण है तथा इस कारण कार्य में प्रारब्ध सम्बन्ध है ।

(६) उद्भव सम्बन्ध तिल से तैल हिमालय से गङ्गा तथा दूध से घृत निकलता है । यहा कारण कार्य में उद्भव सम्बन्ध है । यहा तिल में तेल पहले से ही है केवल तिल का घन अश उस तैल को ढके हुए है । यदि उस आवरण को हटा दें तो तेल प्रकट हो जाता है । साख्य दर्शन में इसे सत्कार्यवाद कहते हैं ।

(७) सान्तानिक सम्बन्ध भूमि से अङ्कुर होता है । पुरुष से पुत्र होता है । मकडी से जाला बनता है । यहा भूमि का एक अश अङ्कुर बना सारी भूमि नहीं । इस प्रकार के सम्बन्ध को सान्तानिक सम्बन्ध कहते हैं ।

(८) विवर्त सम्बन्ध समुद्र से लहर पैदा होती है । यहा लहर समुद्र से पृथक् नहीं है । इसे विवर्तवाद कहते हैं । विश्व ब्रह्म का विवर्त है ।

(९) वैकल्पिक सम्बन्ध भूमि सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है । जिस मार्ग पर वह परिक्रमा लगा रही है उस मार्ग का नाम क्रान्तिवृत्त है । यहा आकाश में कोई मार्ग वस्तुत बना हुआ नहीं है । उसकी कल्पना कर ली गई है ।

(१०) ऐच्छिक सम्बन्ध हम अपने मनोराज्य में जो काल्पनिक जगत् बनाते हैं उसमें विचित्र कारण कार्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया करते हैं । ऐसे सब सम्बन्ध एच्छिक सम्बन्ध कहलाते हैं ।

(११) औपपादिक सम्बन्ध वृक्ष से फूल फल होना लोहे से जग होना शरीर से केश लोम होना ये सब औपपादिक सम्बन्ध के अन्तर्गत आते हैं ।

(१२) परिणामी सम्बन्ध तैल से लौ बनती है अगारे से भस्म बनता है । ये सब परिणामी सम्बन्ध हैं जहा कारण अपने स्वरूप को छोडकर कार्य के रूप में परिणत होता है ।

(१३) रसवाही सम्बन्ध पानी से औषधिया बनना औषधियों से वीर्य बनना रसवाही सम्बन्ध के उदाहरण हैं ।

(१४) सयौतिक समवायी सम्बन्ध जौ गुड आदि से सुरा बनना इसी प्रकार के सम्बन्ध के उदाहरण हैं ।

(१५) उपादान सम्बन्ध मिट्टी से घडा बनना तन्तु से पट बनना उपादान सम्बन्ध के उदाहरण हैं ।

(१६) साक्रामिक सम्बन्ध अग्नि से पानी का गर्म होना सुवर्ण का पिघल जाना इत्यादि साक्रामिक सम्बन्ध हैं ।

(१७) आक्रमिक सचारी सम्बन्ध जपा कुसुम के प्रतिबिम्ब के कारण स्फटिक मणि का लाल हो जाना आक्रमिक सञ्चारी सम्बन्ध के कारण हैं ।

(१८) उपादान कारण इस सम्बन्ध का ऊपर हमने उल्लेख किया । वह सम्बन्ध अनेक प्रकार का है तथा प्रत्येक प्रकार का अपना एक वैशिष्टय है । उदाहरणत निम्न पाँच परिस्थितियों को देखें

१ मकडी से जाला उत्पन्न होता है । किन्तु उत्पन्न होने के बाद जाला मकडी से अलग रहता है । यह प्रभवानालम्बनत्व हुआ । मकडी जाले से अलग रहती है । यह प्रभव पृथक्चरत्व हुआ । जाला अन्त में मकडी में ही लीन हो जाता है । यह प्रभव विलयनत्व हुआ ।

२ पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं । वे पुरुष से पृथक् भी हो जाते हैं किन्तु पुरुष में विलय नहीं होते । इस प्रकार उनमें प्रभवालम्बनत्व है प्रभव पृथक्-चरत्व भी है किन्तु प्रभवा विलयनत्व है प्रभव-विलयनत्व नही ।

३ पृथिवी से औषधि उत्पन्न होती है । उनमें प्रभवालम्बनत्व है । वे पृथिवी से अलग होकर ऊपर की ओर बढती है अत उनमें प्रभव पृथक् चरत्व भी है तथा वे पृथिवी में ही लीन हो

जाती है । इसलिए उनमें प्रभवविलयनत्व भी है । अन्तर इतना है कि जाला मकडी में लीन होता भी है नहीं भी होता किन्तु औषधिया तो पृथिवी में लीन होती ही हैं ।

४ पिता से पुत्र उत्पन्न होता है किन्तु वह पिता पर अवलम्बित नहीं है न ही पिता में उसका विलय होता है । वह अलग रहता है ।

५ मिट्टी से घडा बनता है । घडा सदा मिट्टी पर ही आलम्बित रहता है । मिट्टी में ही उसका विलय होता है और वह मिट्टी से पृथक् भी नहीं रहता । अग्नि से चिंगारी उत्पन्न होती है । यह चिंगारी अग्नि के साथ भी रह सकती है अग्नि से पृथक् भी रह सकती है । इसका विलय अग्नि में हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता ।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कारण कार्य के बीच अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं और इन सम्बन्धों की विचित्रता के कारण ही सृष्टि की विविधता बनती है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में हमें छ सम्बन्ध ही अभिप्रेत हैं। वे छ सम्बन्ध इस प्रकार हैं

१	घडा मिट्टी में है	कारण में कार्य
२	मिट्टी घडे में है	कार्य में कारण
३	घडा भिन्न है मिट्टी भिन्न है	कार्य-कारण परस्पर भिन्न
४	मिट्टी ही घडा है	कारण ही कार्य
५	घडा मिट्टी से अभिन्न है	कार्य कारण से अभिन्न
६	मिट्टी में घडा अध्यस्त है	कार्य में कारण अध्यस्त

ब्रह्म और कर्म के विषय में सम्बन्ध की विविधता निम्न तालिका से ज्ञात है—

१	ब्रह्म कर्मस्थ	कारण कार्यस्थ
२	कर्म ब्रह्मस्थ	कार्य कारणस्थ
३	ब्रह्म और कर्म भिन्न	कार्य कारण भिन्न भिन्न
४	ब्रह्म ही कर्म है	कारण ही कार्य है
५	ब्रह्म कर्म से पृथक् है किन्तु कर्म अपृथक्	कारण कार्य से पृथक् है कार्य कारण से अपृथक्
६	ब्रह्म कर्म में भासित हो रहा है	कारण में कार्य भासित हो रहा है ।

इन छ सम्बन्धों में से प्रथम सम्बन्ध का निरूपण अगले छठे मन्त्र में दूसरे सम्बन्ध का निरूपण सातवें मन्त्र में तथा चौथे सम्बन्ध का निरूपण आठवें मन्त्र में होगा क्योंकि इन सब सम्बन्धों में ये तीन ही सम्बन्ध प्रधान है ।

इस भूमिका के अनन्तर पाँचवें मन्त्र का शब्दार्थ देना उचित होगा—वह चलता है, वह नही चलता । वह दूर है वह समीप है । वह सबके भीतर है, वह सबके बाहर है ।

इस मन्त्रार्थ का भाव तीन रूप में समझा जा सकता है । जो कृतात्मा है उनकी दृष्टि में ब्रह्म चलता नहीं । जो ससारी हैं उनकी दृष्टि में यह चलता है । मुक्त आत्मा के वह निकट है । ससारी व्यक्ति से वह दूर है । मुक्त आत्मा के लिए वह सबके अन्दर है अज्ञानी के लिए वह सबके बाहर है । श्रुति कहती है कि ज्ञानी की ब्रह्म पर दृष्टि है अज्ञानी की कर्म पर । वस्तु स्थिति यह है कि कर्म और ब्रह्म अलग अलग नहीं है ।

दूसरा अर्थ विधेयात्मा की दृष्टि से है । विधेयात्मा उपासक है । उपासना ज्ञान और कर्म के मध्य की वस्तु है । उपासक का ध्येय रहता है कि दृष्टि ब्रह्म पर रहे तथा शरीर से कर्म करे । यही बुद्धियोग है । कर्म दृष्टि से ब्रह्म "एजत्" है ब्रह्म दृष्टि से "अनेजत्" है ।

यह मन्त्र यजुर्वेद में आया है । स्वय यजु शब्द का अर्थ भी गतियुक्त स्थिति अथवा स्थितियुक्त गति है क्योंकि यजु शब्द दो शब्दों को मिलाकर बना है यत् और जू । यत् का अर्थ है गति जू का अर्थ है स्थिति । गति और स्थिति दोनों एक साथ कैसे रह सकती है ? इसका उदाहरण कुम्भकार के चक्र में देखा जा सकता है । जो बहुत तेज गति से चलता है किन्तु उसका कीलक स्थिर रहता है । कुम्भकार के चक्र का एक भाग आपके निकट आ जाता है और दूसरे क्षण दूर हो जाता है और फिर निकट आ जाता है । अत यह कहना होगा कि वह दूर भी है और निकट भी है । इसी प्रकार आत्मा की अपेक्षा ब्रह्म निकट है कर्म की अपेक्षा दूर । पहले दिये गये छ सम्बन्धों को यदि हम देखें तो ब्रह्म से कर्म का सम्बन्ध अनिर्वचनीय कहलायेगा क्योंकि उसमें गति स्थिति दूरता समीपता इत्यादि विरुद्ध भाव एक साथ हैं ।

प्रश्न

१ गति और स्थिति दोनों एक ही जगह कैसे रह सकती हैं ?

२ ब्रह्म और कर्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

३ घड़े और मिट्टी में परस्पर कार्य और कारण के रूप में कितने प्रकार के सम्बन्ध है ?

स्मरणीय उद्धरण

षोडश पाठवत्

एकोनविंश पाठ

यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय— मन्त्र ६ से अन्त पर्यन्त)

हम कह चुके है कि विश्व कर्म है, आत्मा ब्रह्म । इसलिए निम्न छठें मन्त्र में कर्म ब्रह्म में है—यह बताया गया है । तदनन्तर दूसरे मन्त्र में ब्रह्म कर्म में है—यह बताया जायेगा । छठा मन्त्र इस प्रकार है

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

जो आत्म तत्वज्ञेता सम्पूर्ण भूतों अर्थात् विश्व को आत्मा अर्थात् ब्रह्म में देखता है एव विश्व में आत्मा को देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता ।

यहाँ प्रथम भाग में भूतों का उल्लेख है । ब्रह्म के ही दो रूप हैं—प्रत्यक् और पराक् । प्रत्यक् ब्रह्म अहम् है पराक् ब्रह्म त्वम् है । अहम् विषयी है त्वम् विषय है । प्रत्यक् ब्रह्म ज्ञानप्रधान है, पराक् ब्रह्म कर्म– प्रधान । ज्ञान प्रकाश है कर्म आवरण है । इस प्रकार लौकिक दृष्टि से दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । जिसे हम आत्मीय समझते हैं उससे हम राग करते हैं । जिसे हम पराया समझते हैं उससे द्वेष करते हैं । ये दोनों ही दुःख के कारण हैं । हम आत्मीय की प्रशंसा करते हैं और परकीय की निन्दा करते हैं । यही बन्धन का कारण है । प्रस्तुत मन्त्र में सबको आत्मीय समझने की बात कही जा रही है । सबको आत्मीय जान लेने पर किसी की निन्दा की बात हो ही नहीं सकती । वस्तुतः चाहे राग हो चाहे द्वेष दोनों से मोह उत्पन्न होता है । मोह से काम काम से क्रोध क्रोध से सम्मोह सम्मोह से स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश होता है । राग द्वेष से बचने का उपाय है—सब में आत्मीय भाव । यदि यह आत्मीय भाव आ जाये तो बुद्धिनाश को जन्म देने वाली सारी परम्परा स्वयं ही नष्ट हो जाती है और बुद्धियोग का जन्म होता है ।

कर्म में ब्रह्म तथा ब्रह्म में कर्म अथवा सबमें आत्मा को और आत्मा में सबको देखने की बात कहने पर भी कर्म और ज्ञान में अपने और पराये में द्वैतभाव बना रहता है । जब तक द्वैत है, तब तक मोह है, तब तक शोक है । इसलिए द्वैत का सर्वथा उन्मूलन करने हेतु सातवाँ मन्त्र कहा गया है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

मन्त्र का शब्दार्थ—जिसके लिए सभी भूत आत्मा ही हो गए उस विशिष्ट ज्ञानी के लिए जो एकत्व का दर्शन कर लेता है उसे मोह और शोक कहा ? यह युक्तयोगी की स्थिति है । जब युञ्जान योगी निष्काम कर्म से युक्त-योगी बन जाता है अर्थात् साधक सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है तो यह समस्त प्रपञ्च उसके लिए आत्मरूप ही हो जाते हैं । जहाँ एकत्व है वहाँ व्यापकता है । जहाँ व्यापकता है, वहाँ कम्प नहीं है । जहाँ कम्प नहीं है, वहाँ भय नहीं है । जहाँ भय नहीं है, वहाँ शोक नहीं है । यहाँ विशेषज्ञानी का अभिप्राय प्रत्यक्ष ज्ञानी से है ।

यहाँ श्रुति ने यह क्रम अपनाया कि ब्रह्म और कर्म में पहले प्रातिभासिक द्वैत का निषेध किया और व्यावहारिक द्वैत की चर्चा की । फिर व्यावहारिक द्वैत से भी श्रुति पारमार्थिक अद्वैत पर ले आई । प्रातिभासिक द्वैत है—मैं भिन्न हूँ दूसरे भिन्न हैं । व्यावहारिक द्वैत है—मैं दूसरों में हू दूसरे मुझ में है । पारमार्थिक अद्वैत है सब आत्म रूप ही हैं । इस प्रकार अव्यक्त आत्मा का वर्णन हुआ ।

ब्रह्म का वह अंश जो जन्मदाता है शुक्र कहलाता है । यह शुक्र ही सबका उपादान है इसका वर्णन आठवें मन्त्र में इस प्रकार है

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

शब्दार्थ यह है कि उस कवि मनीषी सर्वव्यापक स्वयभू ने कायरहित व्रणरहित स्नायुरहित शुद्ध निष्पाप शुक्र को चारों ओर से घेर लिया तथा इसके बाद उस शुक्र से सदा की भाति पदार्थों का निर्माण किया । इस मन्त्र का यह शाब्दिक अर्थ है । चौथे मन्त्र में यह कहा गया था कि ब्रह्म में मातरिश्वा ने आप की आहुति दी वही शुक्र बन गया । शुक्र का अर्थ है उपादान कारण । स्पष्ट है कि विश्व का उपादान कारण क्षर है अतः क्षर ही शुक्र है ।

शुक्र रेतस् और वीर्य तीनों शब्द सामान्यतः पर्यायवाची समझे जाते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । वीर्य वह है जो आत्मबल को बढाता है । इसके तीन भाग हैं—ब्रह्म क्षत्र और विट । ब्रह्म वीर्य का सम्बन्ध मन से है, जिसमें यह प्रधान होता है, वह ब्राह्म कहलाता है । क्षत्रवीर्य का ब्रह्म प्राण से है । जिसमें यह प्रधान होता है, वह क्षत्रिय कहलाता है । विट वीर्य का ब्रह्म वाक् से है । जिसमें यह प्रधान होता है, वह वैश्य कहलाता है । जिसमें पूषा वीर्य अधिक होता है, वह शूद्र कहलाता है । दूसरी ओर शुक्र का सम्बन्ध अग्नि से है रेत का सम्बन्ध सोम से है । शुक्र का सम्बन्ध स्त्री से है और रेतस् का सम्बन्ध पुरुष से है । ये दोनों मिलकर ही प्रजा की उत्पत्ति करते हैं इसलिए दोनों ही उपादान हैं । कोष में भी शुक्र को अग्नि कहा गया है—सप्तार्चिर्दमुना शुक्र । शतपथ में रेतस् को सोम बताया है—रेतो वै सोम । दोनों के समन्वय से ससार बनता है । यह शुक्र जिसे मन्त्र में अकाय अव्रण, अस्नाविर और अपापविद्ध कहा गया है कवि परिभू स्वयम्भू मातरिश्वा के कारण काय से युक्त हो जाता है क्योंकि मातरिश्वा में स्नेह गुण है और स्नेह गुण से शुक्र की चिति होती है । इसी से यह कार्य रूप में परिणत हो जाता है । इस मातरिश्वा के मन में कामना होती है । यही

उसका मनीषाभाव है । इसी मनीषा के कारण वह विजातीय तत्वों का संग्रह करता है । यही व्रण है। उसके मनीषा भाव के कारण ही सृष्टि में व्यवस्था है । वह मातरिश्वा परिभू है । इसलिए वह शुक्र को स्नाविर बना देता है । अर्थात् उसमें केन्द्र उत्पन्न कर देता है । वह स्वयम्भू रूप में पदार्थ को सीमित कर देता है और इस प्रकार पदार्थ को पापविद्ध बना देता है । इस प्रकार उसके कवित्व से अकाय सकाय मनीषाभाव से अव्रण सव्रण परिभू भाव से अस्नाविर स्नाविर और स्वयम्भू भाव से अपापविद्ध पापविद्ध हो जाता है । यही सृष्टिकर्त्ता मातरिश्वा का सृष्टि के उपादान शुक्र को घेरकर सृष्टि को उत्पन्न करने की रीति है । जैसे ही शुक्र मातरिश्वा से अवच्छिन्न होता है, वह परमेष्ठी कहलाता है । जो अधिदैवत में परमेष्ठी है वही अध्यात्म में महानात्मा है । इस प्रकार आप रेतस् बना मातरिश्वा रेतोधा बना और परमेष्ठी का उदय हो गया ।

ईशोपनिषद् के ९ १० और ११ वें मन्त्र में सूर्य अथवा बुद्धि का वर्णन है । जो अधिदैवत में सूर्य है, वही अध्यात्म में बुद्धि है । बुद्धियोग की सफलता ज्ञान और कर्म के समन्वय में है । ज्ञान सदा क्रिया के साथ रहता है । कर्म के तीन भेद हैं कर्म विकर्म और अकर्म जिनका विस्तार हमने दूसरे मन्त्र की व्याख्या में किया है । ज्ञान के भी तीन भेद हैं ज्ञान विज्ञान और अज्ञान । ज्ञान का अर्थ है मनोबल कर्म का अर्थ है प्राणबल । मनोबल ब्रह्म है प्राण बल क्षत्र है । इन दोनों का समन्वय बुद्धियोग है इसीलिए ईशोपनिषद् के ९ १० ११ मन्त्र में कर्म और ज्ञान के समन्वय की आवश्यकता बताते हुए कहा गया है

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

मन्त्रों का शब्दार्थ बहुत सरल है—जो अविद्या की उपासना करते हैं वे गहरे अन्धकार में जाते हैं । जो केवल विद्या में लगे हैं वे उससे भी गहरे अन्धकार में जाते हैं । विद्या का और फल है अविद्या का और फल है—ऐसा हमने उन धीरों से सुना है जिन्होंने हमें उपदेश दिया । जो विद्या और अविद्या दोनों को जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करता है ।

ब्रह्म ज्ञान रूप है—यह सरलता से समझ में आ जाता है । किन्तु वास्तविकता यह है कि ब्रह्म कर्म रूप भी है । यदि ब्रह्म कर्म रूप न हो तो उससे सृष्टि की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । यह सत्य

है कि हर कर्म के पीछे कामना होती है, किन्तु हर कामना बन्धन का कारण नहीं है । मन विषयों की कामना करता है यह बन्धन का कारण है किन्तु यदि मन की कामनाओं में से कृत्रिम कामनाओं को बुद्धि से विवेकपूर्वक हटा दिया जाता है और केवल स्वाभाविक कामनाओं से प्रेरित होकर कर्म किया जाता है तो कर्म बन्धन का कारण नहीं है । मन चान्द्र है सोममय है स्नेहगुणक है । अत मन की कामना आसक्ति का कारण बनती है क्योंकि स्नेह आसक्ति उत्पन्न करता है । इसके विपरीत बुद्धि तेजोमयी है । तेज तत्व असङ्ग है । अत बुद्धियोग से जुडी कामना बन्धन का कारण नहीं है ऐसी कामना से प्रेरित होकर किये गये कर्म ही निष्काम कर्म कहलाते है । इन निष्काम कर्मों का ही दूसरा नाम यज्ञार्थकर्म है । कर्मयोग के प्रतिपादक ग्रन्थ गीता में कर्म की अनिवार्यता के सात हेतु दिये हैं

१ यदि कर्म छोड दिये जायें तो सञ्चित कर्मों की निवृत्ति किस उपाय से होगी । इसलिए गीता में कहा गया है *"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।"*

२ कर्म के छोडने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

३ कर्म छोडना सम्भव भी नहीं है *"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।"*

४ प्रकृतिसिद्ध कर्म अनिवार्य है *"कार्यते ह्यवश कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणै ।"*

५ कर्म का निरोध कर लेने पर भी मन में वैराग्य नहीं होता । परिणाम होता है मिथ्याचार—

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥

६ अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है *"नियत कुरु कर्मत्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण ।"*

७ कर्म के बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं *"शरीरयात्रापि चते न प्रसिध्येदकर्मण ।"*

सूर्य के सन्दर्भ में जो विद्या अविद्या कही जाती है चन्द्रमा के सन्दर्भ में उसे ही सम्भूति और विनाश कहते हैं । सम्भूति का अर्थ है नाम रूप का धारण करना विनाश का अर्थ है नामरूप का परित्याग । सम्भूति का सम्बन्ध बल से है । रस से विभूति होती है । न रस की उपेक्षा करनी चाहिए न बल की । यही बात ईशोपनिषद् के १२ वें १३ वें और १४ वें मन्त्र में बताई गई है

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सभूत्या रता ॥

अन्यदेवाहु सभवादन्यदाहुरसभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

इन तीन मन्त्रों में वही बात कही गई है जो पहले ९ वें १० वें ११ वें मन्त्र में कही गई थी । अन्तर केवल इतना है कि यहा अविद्या के स्थान पर असम्भूति और विद्या के स्थान पर सम्भूति शब्दों का प्रयोग किया है । १४ वें मन्त्र में असम्भूति के स्थान पर विनाश प्रयोग है । विद्या अविद्या का सम्बन्ध ज्ञान से है । सम्भूति असम्भूति का सम्बन्ध उत्पत्ति से है । वस्तुत विद्या-अविद्या या सम्भूति-विनाश के द्वन्द्व के आठ रूप हैं—

१ मूल द्वन्द्व रस बल का है ।

२ ससार की स्थिति में यही द्वन्द्व अमृत और मृत्यु के रूप में आता है ।

३ स्वयम्भू के स्तर पर यही द्वन्द्व स्थिति गति है ।

४ परमेष्ठी के स्तर पर यह स्नेह तेज का द्वन्द्व है ।

५ सूर्य के स्तर पर यह विद्या अविद्या है ।

६ चन्द्रमा के स्तर पर यही द्वन्द्व सभूति विनाश है ।

७ जीव के स्तर पर यह द्वन्द्व ज्ञान और कर्म है ।

८ भू पिण्ड के स्तर पर यही द्वन्द्व देवता और भूत के रूप में प्रकट होता है ।

क्योंकि सृष्टि के मूल में रस और बल दोनों है और क्योंकि सृष्टि में भी मृत्यु और अमृत दोनों भाव हैं इसलिए वेद बुद्धि के स्तर पर विद्या अविद्या तथा मन के स्तर पर सभूति तथा विनाश के समन्वय की बात करता है । वेद की यही समन्वित दृष्टि चार पुरुषार्थों में परिणत हो जाती है । बल से जुडे हैं, अर्थ और काम पुरुषार्थ तथा रस से जुडे हैं, धर्म और मोक्ष ।

विज्ञानात्मा और प्रज्ञानात्मा का वर्णन करने के अनन्तर उपनिषद् १५ १६ १७ वें मन्त्र के प्रारम्भिक भाग में भूतात्मा का वर्णन करता है

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।
समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥

योऽसावसौ पुरुष सोहमस्मि ।
वायुरनिलममृतम् ... ॥

इन मन्त्रों में भूतात्मा का वर्णन है । अब तक अव्यक्त महत्, विज्ञान और प्रज्ञानात्मा का वर्णन हो चुका । परमात्मा साक्षी है जीव भोक्ता है । जीव में भी भोगने वाला केवल भोक्तात्मा ही है । विश्व में अव्यक्तात्मा का सम्बन्ध स्वयम्भू से महानात्मा का सम्बन्ध परमेष्ठी से विज्ञानात्मा का सम्बन्ध सूर्य से प्रज्ञानात्मा का सम्बन्ध चन्द्रमा से और भोक्तात्मा का सम्बन्ध पृथिवी से है । इन मन्त्रों में उसी भोक्तात्मा का वर्णन है । इस भोक्तात्मा के प्राज्ञ तैजस और वैश्वानर तीन भाग हैं । ईश्वर के भी तीन भाग है सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ और वैश्वानर । अन्तर इतना है कि ईश्वर कर्म साक्षी है जीव कर्म भोक्ता है । क्योंकि प्राज्ञ तैजस और वैश्वानर का सम्बन्ध आदित्य वायु और अग्नि से है इसलिए इसे देवसत्यात्मा भी कहा जाता है । इस देवसत्यात्मा का यह उपदेश दिया गया है कि वह पूषन् अर्थात् पृथिवी के अभिमानी देवता से यह प्रार्थना करे कि हिरण्मयपात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है । हे पूषा देवता ! सत्य धर्म की दृष्टि के लिए आप उस आवरण को हटाइये । पूषा भौतिक सम्पत्ति का देवता है । इसलिए वही भौतिक सम्पत्ति के आवरण को दूर कर सकता है । पूषा किस प्रकार आवरण को हटाता है—इसका वर्णन करते हुए श्रुति में कहा गया है कि हे पूषा ! तुम एकर्षि हो यम हो सूर्य हो प्रजापति के पुत्र हो । आप अपनी रश्मियों को फैलाइये । तेज को समेटिये । मैं आपका कल्याणतम रूप देखना चाहता हू जो सौर हिरण्मय पुरुष है वह मैं हू । यहा एकर्षि शब्द के द्वारा पृथिवी यम के द्वारा अन्तरिक्ष और सूर्य के द्वारा द्युलोक का बोध होता है । प्रजापति इन तीनों का केन्द्र है । सप्त ऋषियों में दो श्रोत्रों के दो ऋषि हैं गौतम और भरद्वाज दो चक्षुओं के दो ऋषि हैं विश्वामित्र और जमदग्नि । दो नासिकाओं के दो ऋषि हैं वशिष्ठ और कश्यप । सातवी वाक् का एक ही ऋषि है अत्रि । यह पूषा भौतिक पक्ष का देवता होने के कारण एकर्षि कहलाता है क्योंकि समस्त भूत वाक् है और वाक् ही अत्रि है वागेवात्रिः । इसी पूषा के सम्बन्ध के कारण पृथिवी को पूषा कहा जाता है । यह पूषा ही शुक्र के रूप में तरल है किन्तु हिरण्मय तेज घन है । इस तेज के सम्पर्क से ही हमारे घन भाग का निर्माण होता है ।

कहा जा सकता है कि यदि पूषा पृथिवी है तो उसे अन्तरिक्ष के यम और दिव्य सूर्य से कैसे जोडा गया ? उत्तर यह है कि पूषा केवल पृथिवी ही नहीं है वायु और सूर्य भी है । इस प्रकार पूषा त्रिलोक में व्याप्त है । इसके कल्याणतम रूप को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके ही वाक् रूप से भूत आन्तरिक्ष रूप से प्राण और दिव्य रूप से मन बनता है । और यह सब अमृत रूप है ।

इसके अतिरिक्त शरीर भस्म है—अथेद भस्मान्त शरीरम् । इस भस्मान्त शरीर में ही दिव्यता का बोध करना है । मनुष्य को चाहिये कि जो उसके करने का सकल्प है तथा जो उसने किया है उसे सदा याद रखे ओं क्रतो स्मर कृत स्मर क्रतो स्मर कृत स्मर । इस स्मरण से उसके सङ्कल्प और कर्म में एकरूपता आ जायेगी और यही कल्याण का मार्ग है ।

प्राज्ञ तैजस और वैश्वानर तीनों ही वस्तुत अग्नि के घन तरल तथा विरल रूप हैं । इसलिए उपनिषद् के अन्त में अग्नि से ही प्रार्थना की गई है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

अर्थात् हे अग्ने । हमें सन्मार्ग से ले चलो । हम तुम्हें बारम्बार नमस्कार करते हैं । हमें कुटिल पापों से बचाओ । तुम समस्त विश्व को जानते हो ।

यहाँ विश्व के लिए वयुन शब्द का प्रयोग है । वस्तु के दो भाग हैं एक स्वयं वस्तु और एक उसका आकार । आकार को वयोनाध कहते हैं वस्तु को वय । वय और वयोनाध को मिलाकर वयुन कहा जाता है । इन वयुनों का समूह ही विश्व है । उसका जानने वाला अग्नि है । हम उसी को नमस्कार करते हैं ।

उपनिषद् की समाप्ति उसी मन्त्र से होती है जिस मन्त्र से उसका प्रारम्भ हुआ था । इस मन्त्र की व्याख्या हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं, अत पुन व्याख्या की आवश्यकता नहीं है—

ओं पूर्णमद पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

प्रश्न

१ राग और द्वेष से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है ?

२ एकत्व के जान लेने का क्या फल है ?

३ कर्म क्यों नहीं छोडने चाहिये ?

४ द्वन्द्व के आठ प्रकार कौन से है ?

५ पूषा का क्या स्वरूप है ?

६ अग्नि की क्या विशेषता है ?

स्मरणीय उद्धरण

षोडश पाठवत्

टिप्पणी इस पाठ में जिन मन्त्रों पर स्वर चिह्न नहीं हैं वे अश ईशोपनिषद् में हैं किन्तु यजुर्वेद में नहीं हैं ।

विंश पाठ

सामवेद (आरण्य गान ८९) : सेतुसाम

२१ १२२ २ २ १
हाउ ॥ ३ ॥ सेतू स्तर ॥ ३ ॥ दुस्त ॥ रान् ॥ ३ ॥

दानेनादानम् ॥ ३ ॥ हाउ ॥ ३ ॥ अहमस्मिप्रथमजाऋता २३

स्या ३४५ ॥ हाउ ॥ ३ ॥ सेतू स्तर ॥ ३ ॥ दुस्त ॥ रान्

॥ ३ ॥ अक्रोधेन क्रोधं ॥ २ ॥ अक्रोधेन क्रोध ॥ ॥ हाउ ॥

पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्यना २३ मा ३४५ ॥ हाउ ॥ ३ ॥ सेतू

स्तर ३ दुस्त ॥ रान् ॥ ३ ॥ श्रद्धयाश्रद्धा ॥ ३ ॥ हाउ ॥ ३ ॥

योमाददातिस इदेवमा २३ वा ३४५ त् ॥

हाउ ॥ ३ ॥ सेतू स्तर ॥ ३ ॥ दुस्त ॥ रान् ॥ ३ ॥

सत्येनानृत ॥ ३ ॥ हाउ ॥ ३ ॥ अहमन्नमन्नमदतमा २३ द्मी ३४५ ॥

हाउ ३ वा ॥ एषा गति ॥ ३ ॥ एतदमृत ॥ ३ ॥

स्वर्गच्छ ॥ ३ ॥ ज्योतिर्गच्छ ॥ ३ ॥ सेतू स्तीर्त्वाचतुरा २३४५ ॥

यह सामवेद का अंश है जो सेतुसाम नाम से प्रसिद्ध है । सामवेद के अनेक अंश उदाहरणत प्रस्तुत अंश में हाउ केवल सङ्गीत की दृष्टि से रहते है उनका कोई अर्थ नही होता । जो साम

के गायन का अभ्यास करते हैं उन्हें ऐसे अंशों की उपयोगिता मालूम होती है । इन्हें स्तोभ कहा जाता है । इसी प्रकार मोटे अक्षरों के ऊपर लिखे हुए छोटे अक्षर तथा संख्या के अङ्क गायन के समय स्वर का बोध कराने के लिए है । उनका कोई अर्थ नहीं होता ।

एक और विशेषता यह है कि सामवेद में एक ही ऋचा के चार पदों को कभी कभी अलग अलग पढ़ा दिया जाता है और उन पादों के बीच में कुछ दूसरा पाठ दे दिया जाता है । उदाहरणत: प्रस्तुत सेतुसाम में पूरी ऋचा इस प्रकार है—

३१ २ ३ २ ३ २ ३
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य

१२ ३१ २ ३१२ ३१२
पूर्वन् देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।

२ ३१२३२३ ३ १ २ ३
यो मा ददाति स इदेवामावद्

२३ ३१ २३१२
अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

ऊपर सेतुसाम गायन में हम देखेंगे कि इस ऋचा के चारों पाद न केवल अलग अलग कर दिये गये हैं, बल्कि उनके बीच में कुछ और पाठ भी डाल दिये गये हैं । कारण यह है कि सामवेद में गायन ही मुख्य है जिस प्रकार आधुनिक काल क शास्त्रीय रागों में एक ही पद को अनेक बार दोहराते हैं वैसा ही सामवेद में भी होता है । इन सब बातों का सम्बन्ध सङ्गीत की गायन विधि से है यह केवल पुस्तक पढ़कर नहीं समझी जा सकती । उसे किसी साम गान करने वाले गुरु से ही सीखना पड़ता है ।

• इन सब ।यन सम्बन्धी विशेषताओं को जान लेने के बाद यदि हम उपर्युक्त सेतुसाम का अर्थ जानना चाहें तो वह इस प्रकार होगा—

दुस्तर खाइयों का पार करो (ये खाइयाँ चार है) दान से लोभ को (जीतो), अक्रोध से क्रोध को, (जीतो) श्रद्धा से अश्रद्धा को (जीतो) सत्य से झूठ को (जीतो) । यही एक मार्ग है । यही अमृत तत्त्व है । स्वर्ग का प्राप्त करो । ज्योति का प्राप्त करो । चार खाइयों को पार करो । इस आदेश के बीच बीच में उस ऋचा के चार पाद दिय गये है जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है । इस ऋचा में साधक कहता है—

मैं ऋत से सबसे पहले उत्पन्न होने वाला हूँ । मैं देवों से भी पहले था मेरा नाम अमृत है । जो मुझे देता है वही मेरी रक्षा करता है । मैं अन्न हूँ और अन्न के खाने वाले को भी खाता हूँ । इस ऋचा के अर्थ को समझने के लिए तीन तत्वों को समझना होगा १ ऋत २ देव ३ अन्न अन्नाद । केन्द्र रहित को ऋत कहते हैं । केन्द्र सहित को सत्य कहते हैं । असीम परात्पर ऋत है क्योंकि उसका

कोई केन्द्र नहीं है । ससीम पुरुष सत्य है क्योंकि उसका केन्द्र मन है । इस परात्पर ऋत से ही सत्य पुरुष उत्पन्न होता है,जिस पुरुष के हम सब भाग है । इसीलिए ईशोपनिषद् में यह कहा है—जो पुरुष है वह मैं ही हूँ— यो असावसौ पुरुष सोऽहमस्मि । अत अपने आप को ऋत से प्रथम उत्पन्न होने वाला बतलाना ठीक ही है । देव भी प्राण है,किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में देव प्राण नहीं थे। सृष्टि के प्रारम्भ में सुषुप्त प्राण थे,जैसा कि नासदीय सूक्त में कहा गया है—"आनीदवातम् प्रथम प्राण ऋषि है द्वितीय प्राण पितर है देव तृतीय प्राण है— ऋषिभ्यो पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवा साधक का अपने आप को देवताओं से पूर्व बताना उचित ही है।जीवात्मा सृष्टि से पूर्व भी है किन्तु देवता सृष्टि के बाद बने है । वस्तुत आत्मा अमृत है ।

ऋत और देव के इस प्रसङ्ग को समझ लेने के बाद अन्न अन्नाद का अर्थ समझ लेना चाहिये। अन्नाद का अर्थ है भोक्ता अन्न का अर्थ भोग्य । जो एक का भोक्ता है वह दूसरे का भोग्य है । एक स्थूल उदाहरण से समझें तो हिरण घास का भोक्ता है किन्तु सिंह का भोग्य है । दूसरे शब्दों में वह घास का अन्नाद है और सिंह का अन्न है । ससार में सबकी यही स्थिति है । अन्नाद को अग्नि कहा जाता है क्योंकि अन्न को खाने का काम वस्तुत अग्नि ही करती है । जो कुछ भी खाया जाता है वह सोम है इसलिए सोम को अन्न कहा जाता है । अग्नि का कार्य है विकास सोम का कार्य है सङ्कोच। विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर सङ्कोच में परिणत हो जाता है । सङ्कोच अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर विकास में परिणत हो जाता है। इस प्रकार अग्नि सोम में और सोम अग्नि में परिणत हो रहा है । इसीलिए सोम अग्नि को कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ और मित्रता में तुमसे छोटा हूँ ।

अग्निर्जागार तमय सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योका ।

सोम अपने आप को इसीलिए छोटा बताता है कि वह भोग्य है और भोग्य सदा भोक्ता से छोटा होता है । यही बात नासदीय सूक्त में भी कही गयी है कि स्वधा अर्थात् अन्न छोटा है प्रयति अर्थात् भोक्ता बड़ा है— स्वधाऽवस्तात् प्रयति परस्तात् सेतुसाम की ऋचा का अर्थ जान लेने के बाद यदि हम उन चार आदेशों की ओर ध्यान दें जो इस सेतु साम में दिये गये हैं तो यह ज्ञात होगा कि ये चारों आदेश सार्वभौम हैं । सभी धर्मों में लोभ को दान से क्रोध को प्रेम से सन्देह को श्रद्धा से तथा झूठ को सत्य से जीतने की बात कही गयी है । भारत वर्ष में उत्पन्न होने वाले दो धर्म बौद्ध और जैन अवैदिक माने जाते हैं किन्तु हम देखेंगे कि इस सेतुसाम में जिस अहिंसा सत्य और अपरिग्रह की बात की गयी है वही बौद्ध और जैन धर्म की शिक्षाओं के भी मूलाधार है । अपनी बात के समर्थन में हम सेतुसाम के चार आदर्शों के सम्बन्ध में बौद्ध और जैन ग्रन्थों से भी कुछ उद्धरण नीचे दे रहे हैं—

(१) दान से लोभ को जीते—

बौद्ध सन्दर्भ -

सक्कच्च दान देथ सहत्था दान देथ
चित्तीकत दान देथ अनपविद्ध दान देथ—दीघनिकाय

अर्थ सत्कारपूर्वक दान दो अपने हाथ से दान दो मन से दान दो, ठीक तरह से दोष रहित दान दो।

ते मतेसु न मीयन्ति पन्थान व सहब्बज ।
अप्पस्मि ये पवेच्छन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥—सयुक्त निकाय

अर्थ वे मरने पर भी नहीं मरते जो एक पथ से चलते हुए सहयात्रियों की तरह थोडी से थोडी चीज को भी आपस में बाँट कर खाते हैं। यह पारस्परिक सहयोग ही सनातन धर्म है।

जैन सन्दर्भ -

परिग्गहनिविट्ठाण वेर तेसि पवड्ढई ।—सूत्रकृताग

अर्थ जो परिग्रह (समहवृत्ति) में व्यस्त हैं वे ससार में अपने प्रति वैर ही बढाते हैं।

इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्य पलिमथू—स्थानाग

अर्थ लाभ मुक्तिमार्ग का बाधक है।

(२) अक्रोध से क्रोध को जीतें

बौद्ध सन्दर्भ -

न हि वेरेण वेराणि सम्मन्तीध कदाचन
अवेरेण च सम्मन्ती एस धम्मो सनन्तनो—धम्मपद

अर्थ वैर से वैर कभी भी शान्त नहीं होता अवैर से ही वैर शान्त होता है—यह शाश्वत नियम है।

यो उप्पतित विनेति क्रोध
विसठ सप्पविसंऽव ओसधेहि
सो भिक्खु जहाति ओर पारं
उरगो जिण्णमिव तर्च पुराण—सुत्तनिपात

अर्थ जो बढते हुए क्रोध को इस प्रकार शान्त कर देता है जिस प्रकार देह में फैलते हुए सर्प विष को औषधि शान्त कर देती है वह सयमी इस लोक और परलोक से उसी प्रकार छूट जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है जिस प्रकार पुरानी केंचुली से साँप ।

जैन सन्दर्भ -

अप्पाण पि न कोवए—उत्तराध्ययन

अर्थ अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो ।

धम्ममहिंसासम नत्थि—भक्तपरिज्ञा

अर्थ अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है ।

(३) श्रद्धा से अश्रद्धा को जीते ।

बौद्ध सन्दर्भ -

सद्धाबीज तपो वुट्टि ।—सुत्तनिपात

अर्थ श्रद्धा बीज है तप वर्षा है ।

सद्धा बल धम्मो —पटिसम्भिदामग्गो

अर्थ धर्म का बल श्रद्धा है ।

जैन सन्दर्भ -

सद्धा खम णे विणइत्तु राग —उत्तराध्ययन

अर्थ श्रद्धा हमें राग से छुडाने में समर्थ है ।

अदक्खु व दक्खुवाहिय सद्दहसु ।—सूत्रकृताग

अर्थ न देखने वालों ! तुम उनके वचनों पर श्रद्धा करो, जिन्होंने देखा है ।

(४) सत्य से असत्य को जीते ।

बौद्ध सन्दर्भ -

सच्च हवे सादुतर रसान ।—सुत्तनिपात

अर्थ सत्य का रस सबसे अधिक स्वादु है ।

सजानमानो न मुसा भणेय्य । विपानवत्थु

अर्थ जानते हुए कभी झूठ न बोले ।

जैन सन्दर्भ -

पुरिसा । सच्चमेव समभिजाणाहि । आचारांग

अर्थ हे मानव । तुम सत्य को ही सम्यक् रूप से जानो ।

भासियव्व हिय सच्च उत्तराध्ययन

अर्थ सत्य और हितकारी वचन बोलने चाहिये ।

इस प्रकार यद्यपि ईसाई तथा मुस्लिम धर्म में भी वेद के उपर्युक्त आदेशों का समर्थन खूब मिल जायेगा, किन्तु ऐसे वचन देने पर भाष्य बहुत लम्बा हो जायेगा[redacted] इस देश में ही उत्पन्न होने वाले बौद्ध और जैन धर्मों के थोडे से उदाहरण देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेद का सन्देश सर्वसम्मत है ।

प्रश्न

१ सामवेद के पाठ की क्या विशेषता है ?
२ सेतुसाम में पठित ऋचा का क्या अर्थ है ?
३ अग्नि और सोम का क्या सम्बन्ध है ?
४ सेतुसाम में किन चार खाईयों का उल्लेख है ?
५ वेद का सन्देश सार्वभौम कैसे है ?

स्मरणीय उद्धरण

पाठ मे उद्धृत बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के उद्धरण कण्ठस्थ करे ।

एकविंश पाठ

काल सूक्त (अथर्ववेद १९. ६.५३)

हम जिन पदार्थों पर विचार करते हैं सम्भवत काल उनमें सबसे सूक्ष्म है क्योंकि काल को आँख नाक कान आदि किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता । केवल मन ही काल को जानता है । यदि मन न हो तो भी विश्व के समस्त पदार्थों का अस्तित्व बना रहेगा, किन्तु मन की चेतना के बिना काल की सत्ता सन्दिग्ध ही है । इस दृष्टि से काल चेतना के सबसे अधिक निकट है । सामान्यतया हमें काल का बोध सूर्य से होता है । किन्तु यह बोध मन की सहायता के बिना नहीं हो सकता । अत ज्ञानशक्तिसम्पन्न मन जब सूर्य से जुडता है तो काल का बोध होता है । हम प्रारम्भ में बता चुके हैं कि आत्मा के तीन घटक हैं—मन प्राण और अन्न । साथ ही उपनिषदों में पाँच कोषों का वर्णन है—आनन्द विज्ञान मन प्राण और अन्न । इन पाँचों के बीच मन है और मन काल से जुड़ा है । स्पष्ट है कि सृष्टि के केन्द्र में काल है । दूसरी ओर सूर्य भी पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में है । उसके एक ओर चन्द्र और पृथिवी है दूसरी ओर परमेष्ठी और स्वयम्भू है । इस प्रकार चाहे मन की दृष्टि से देखें चाहे सूर्य की दृष्टि से काल केन्द्रस्थ है । अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के षष्ठ अनुवाक में तिरेपनवा और चौवनवा सूक्त काल से सम्बद्ध है । उसमें से यहा हम यहा केवल प्रथम सूक्त की सङ्क्षिप्त व्याख्या करेंगे । इस सूक्त में दस मन्त्र हैं । प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि सहस्राक्षो अजरो भूरिरेता ।

तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

मन्त्र का अर्थ सरल है—काल एक अश्व है जिसकी सात रश्मियाँ हैं हजार आँखें है, जो कभी वृद्ध नहीं होता और जो अत्यन्त शक्तिशाली है । विद्वान् मनीषी इस काल के अश्व पर सवार होते हैं । ये समस्त लोक उस काल अश्व के चक्र हैं ।

यहाँ काल को अश्व बताया गया है । अग्नि से आप उत्पन्न हुआ । यह आप ही अश्रु बना । यह अश्रु ही अश्व है । वैदिक शब्दों की ऐसी व्याख्या पर आश्चर्य नही करना चाहिये क्योंकि वेद के शब्द प्रत्यक्ष अर्थ न देकर परोक्ष अर्थ देते हैं—

परोक्षकामा हि देवा । अश्रु ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम् । स्वयम्भू अग्नि रूप है । उससे जल रूप परमेष्ठी उत्पन्न हुआ । उस परमेष्ठी से ही काल प्रारम्भ होता है । अत यहाँ काल को आप अथवा अश्रु अथवा अश्व कहा गया है । उसकी सात रश्मियाँ बताई गई हैं । ऋग्वेद में सात दिशा सात होता सात आदित्य इत्यादि अनेक सात पदार्थों का वर्णन है । वहाँ वृषभ को भी सप्त रश्मि कहा गया है । वृषभ शिव का वाहन है । शिव का दूसरा नाम महाकाल है । इस नाते

काल का सम्बन्ध सप्त रश्मियों से माना जा सकता है । सप्ताह के सात दिन भी काल की सप्त रश्मियाँ हैं । सूर्य की किरणों के सात रंग भी काल की सप्त रश्मि कहला सकते हैं । पुरुष सूक्त में पुरुष को सहस्रशीर्ष वाला सहस्राक्ष वाला और सहस्रपाद वाला बताया गया है । स्वयम्भू शीर्ष है सूर्य अक्ष है पृथिवी पाद है क्योंकि काल का सम्बन्ध सूर्य से है । इसलिए काल को सहस्राक्ष कहना उचित ही है । शरीर का सम्बन्ध अर्थ से है मन का सम्बन्ध काम से । बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है । अर्थ और काम से आक्रान्त शरीर और मन जीर्ण होते हैं किन्तु सूर्य से जुडी बुद्धि अजर है इसलिए यहाँ काल को अजर कहा गया है । इसलिए यह भी कहा गया है कि जो बुद्धिमान् हैं वे काल के अश्व पर आरूढ रहते हैं । विश्व के समस्त पदार्थों में जितना परिवर्तन हो रहा है काल के कारण हो रहा है । अत काल को अत्यन्त शक्तिशाली बताना उचित ही है । पहली पङ्क्ति में कहा गया है कि काल सबका वहन करता है । अभिप्राय यह है कि सामान्य मनुष्यों को तो काल वहन करता है किन्तु प्रज्ञाशील काल पर सवार हो जाते हैं । स्पष्ट है कि सामान्य मनुष्य काल के प्रवाह में बहते रहते हैं किन्तु बुद्धिमान् काल के वशीभूत नहीं होते,प्रत्युत काल ही उनके वश में होता है । क्योंकि काल विश्व के किसी भी पदार्थ को अपरिवर्तित नहीं छोडता इसलिए कहा गया कि मानों सारा विश्व ही काल का चक्र है ।

अभिप्राय यह है कि हम बुद्धि के द्वारा ही काल को जीत सकते है,मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । क्योंकि बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है इसलिए यह कहा गया है कि जो कुछ सूर्य से ऊपर है वह मृत्यु से मुक्त है । जो सूर्य से नीचे है वही मृत्यु के चंगुल में है । काल को मृत्यु कहा जाता है क्योंकि काल परिवर्तन का कारण है और जहाँ परिवर्तन है वहाँ मृत्यु है । सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्ष ।

स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् काल स ईयते प्रथमो नु देव ॥

मन्त्र का शब्दार्थ है—काल सात चक्रों का वहन कर रहा है । इसकी सात नाभियाँ हैं । इसके अक्ष में अमृत है । यह सम्पूर्ण विश्व को घुमा रहा है । यह प्रथम देव है जो सर्वत्र व्याप्त है ।

भूर्भुव स्व मह जन तप सत्यम्—ये सात लोक हैं जिन्हें काल अश्व वहन करता है । सप्ताह के सात दिन भी सात चक्र हैं । इन चक्रों की जो नाभि है वह सूर्य है वह अमृत है । काल की गति कुटिल कही जाती है । यह कुटिल गति ही सवत्सर है । कुटिल गति का नाम है सर्वत्सर। सर्वत्सर ही सवत्सर हो जाता है।पृथिवी सूर्य के चारों ओर अण्डाकार घूमती है । इस अण्डाकार भ्रमण का नाम ही सर्वत्सर है । सर्वत्सर ही सवत्सर है—सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्सम्वत्सर । यह सवत्सर ही मृत्यु है,क्योंकि यही दिन रात के रूप में मनुष्यों की आयु क्षीण करता है—एष वै मृत्युर्यत्सवत्सर । एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायु क्षिणोति ।

तृतीय मन्त्र

पूर्ण कुम्भोधि काल आहितस्त वै पश्यामो बहुधा नु सन्त ।

स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ काल तमाहु परमे व्योमन् ।

उस काल के आधार पर ही पूर्ण कुम्भ प्रतिष्ठित है । यह पूर्णकुम्भ ही इन सम्पूर्ण लोकों का आत्मा है । उस काल को महर्षि परम व्योम कहते हैं ।

यदि हम किसी खुले स्थान पर चारों ओर फैली हुई पृथिवी को देखें तो गोलाकार आकाश क्षितिज को छूता हुआ दिखाई देगा । यह आकार ऐसा होता है जैसा कछुए का । इसे ही प्रजापति का कच्छपावतार कहा जाता है । इसी में यदि नीचे के भाग को एक कपाल और दूसरे भाग को ऊपर का कपाल मान लिया जाय तो वह कुम्भ बन जायेगा । यह कुम्भ देश है जो काल पर टिका है इस कुम्भ को बनाने वाला प्रजापति है और इसलिए कुम्भकार का एक दूसरा नाम प्रजापति भी है । इस कुम्भ में ही समस्त रस हैं इसलिए इसे पूर्णकुम्भ कहा जाता है । देश क्षर है काल अक्षर । ये क्षर और अक्षर दोनों जिसमें स्थित हैं उसे ही यहाँ परमव्योम कहा गया है । काल जब केन्द्र में होता है तो प्रत्यक् कहलाता है । पिण्ड में स्थित होने पर यही काल पराक् कहलाता है । रस से भरे हुए देश रूपी पूर्णकुम्भ को माङ्गलिक मानने के कारण ही माङ्गलिक अवसरों पर कुम्भ रखा जाता है ।

चतुर्थ मन्त्र

स एव स भुवनान्याभरत् स एव स भुवनानि पर्यैत् ।

पिता सन्नभवत् पुत्र एषा तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥

शब्दार्थ—काल ही भुवनों का भरण पोषण करता है । वह काल भुवनों को चारों ओर से व्याप्त किये हुए है । इस प्रकार वह इनका पिता भी है और पुत्र भी है । उससे बड़ा कोई दूसरा तेज नहीं है ।

काल ही दिक्-देश को जन्म देता है इसलिए उसे भुवनों का भरण करने वाला कहा गया है काल से परे कुछ भी नहीं इसलिए कहा गया है कि काल ने सबको घेर रखा है । सत्कार्यवाद के अनुसार कारण ही कार्य में परिवर्तित होता है । कारण को पिता कार्य को पुत्र कहा जाता है । काल ही कारण है काल ही कार्य है । इसलिए उसे ही पिता और उसे ही पुत्र कहा जाता है । काल के प्रभाव से ही पदार्थ तेजस्वी हैं । इसलिए यह कहा गया है कि काल से बड़ा कोई तेज नहीं है ।

पञ्चम मन्त्र

कालोमू दिवमजनयत् काल इमा पृथिवीरुत ।

काले ह भूत भव्य चेषित ह वि तिष्ठते ॥

शब्दार्थ—काल ने द्युलोक को उत्पन्न किया काल ने ही इन पृथिवियों को उत्पन्न किया। काल में भूत भविष्य और वर्तमान टिके हुए हैं।

सृष्टि के तीन पथ हैं—प्राण अधिदैवत है प्राणी अध्यात्म है, भूत अधिभूत है।

पूर्व में चतुर्थ मन्त्र में काल भुवनों का भरण पोषण करता है यह कहकर आधिभौतिक मर्ग का वर्णन कर दिया। अब इस पाचवें मन्त्र में तथा अगले छठे मन्त्र में अधिदैवत का वर्णन हो रहा है। अधिदैवत सृष्टि में तैंतीस प्राण आते है आठ वसु प्राण ग्यारह रुद्र प्राण बारह आदित्य प्राण तथा एक-एक वसु तथा रुद्र और आदित्य के बीच का प्राण। ये तैंतीस प्राण ही तैंतीस देवता है। इसलिए इन्हें अधिदैवत सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टि में न दिक् का बन्ध है न देश का। पाषाण आदि अधिभूत सृष्टि है जो सर्वथा देशबद्ध है। अध्यात्म सृष्टि पशु पक्षी और मनुष्यों की है। वह न अधिदैवत के समान सर्वथा दिक् देश काल से युक्त है न अधिभूत के समान सर्वथा दिक् देश काल से बन्धी है।

छठा मन्त्र

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्य।

काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति॥

विभूति दो प्रकार की है—भौतिक और दैवी। दैवी विभूति श्री है भौतिक विभूति लक्ष्मी है। इनमें श्री शीर्षस्थानीय है इसलिए शतपथ ब्राह्मण में श्री का सम्बन्ध सिर से माना गया है—यत् श्रिय समुदोहत् तस्मात् शिर। लक्ष्मी का सम्बन्ध पिण्ड से है। पिण्ड कालबद्ध है। लक्ष्मी जड है तथा क्षर है। श्री का सम्बन्ध पिण्ड के महिमामण्डल से है। श्री अक्षर है। वह पिण्ड से बाहर महिमामण्डल में है। इसलिए जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में उसे बहिर्देव कहा गया है—बहिर्देवो वै श्री। श्री का नाम ही भूति है क्योंकि वह भूत का महिमामण्डल है। भूतों में इस भूति का आविर्भाव हो जाना ही सम्भूति या सृष्टि है। इस भूति का तिरोभाव हो जाना ही प्रलय है। काल ही सृष्टि और प्रलय को करता है— काल सृजति भूतानि काल संहरते प्रजा।

इस मन्त्र में काल का सम्बन्ध सूर्य, भूत तथा चक्षु से जोडा गया है। सूर्य अधिदैव है भूत आधिभौतिक है चक्षु आध्यात्मिक है। यह प्रत्यक्ष है कि सूर्य की तेजस्विता सर्वाधिक है। इसलिए सूर्य को चक्षु कहा जाता है तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्। चक्षु अक्ष और नेत्र में चक्षु प्राणात्मक है। इसे ही प्रज्ञा भी कहते हैं। अक्ष भूतमात्रा है। यह चक्षु की अपेक्षा स्थूल है। किन्तु सबसे अधिक स्थूल नेत्र है जो भूतात्मक है। इन तीन की अपेक्षा ही चक्षु को त्रिवृत कहा है - त्रिवृद्वै चक्षु।

सातवाँ मन्त्र

काले मन काले प्राण काले नाम समाहितम्।

कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमा॥

शब्दार्थ है—काल में मन प्राण और नाम समाहित हैं। सब प्रजा वर्तमान काल में प्रसन्न रहती है।

चतुर्थ मन्त्र में आधिभौतिक पञ्चम षष्ठ मन्त्र में आधिदैविक विवर्त का वर्णन करने के बाद प्रस्तुत मन्त्र में अध्यात्म का उल्लेख है। मन ज्ञान का प्राण क्रिया का और नाम अर्थ का बताता है। आदित्य प्राण के द्वारा काल मनोमय है वायव्य प्राण के द्वारा प्राणमय तथा आग्नेय प्राण के द्वारा वाङमय है। मन प्राण और नाम काल में समाहित हैं। अर्थात् काल ही मन प्राण और नाम है। आधार और आधेय में कोई भेद नहीं है। काल में काल के द्वारा काल ही काल रूप में परिणत हो जाता है। काल में अर्थात् अक्षर में काल के द्वारा अर्थात् विकार क्षर के द्वारा काल अर्थात् महाभूत कालरूप में अर्थात् कार्य जगत् में परिणत हो रहे हैं—यह भाव है।

सूर्य केन्द्र में है। उसका अस्त हो जाना रात्रि है उदित हो जाना दिन है। दिन ही वर्तमान है। रात्रि भूत भविष्य है।

आठवां मन्त्र

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥

शब्दार्थ—काल में ही तप है। काल में ही ज्येष्ठ तथा काल में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है। काल ही सबका ईश्वर है। जो काल प्रजापति का भी पिता था। इस मन्त्र में बताए ज्येष्ठ और ब्रह्म काल में समाहित माने गये हैं। प्रजापति का ज्ञान ज्योतिर्मय अव्यय मात्र तप है कर्म ज्योतिर्मय अक्षर भाग ज्येष्ठ है तथा भूत ज्योतिर्मय आत्मक्षर भाग ब्रह्म है जिसके लिए गीता में ब्रह्माक्षर समुद्भवम् कहा गया है। इस मन्त्र में जिन्हें तप, ज्येष्ठ और ब्रह्म कहा गया है उन्हें ही सातवीं ऋचा में मन प्राण और नाम कहा गया है। तपज्ञान ज्योति पुरुष को बताता है ज्येष्ठ कर्मज्योति परा प्रकृति को और ब्रह्म भूतज्योति अपरा प्रकृति को। इनमें तप अधिष्ठान है ज्येष्ठ निमित्त है और ब्रह्म उपादान है। तप का ज्ञान रूप "यस्य ज्ञानमय तपः" इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है जबकि ज्येष्ठ की कर्मरूपता प्राणो वै ज्येष्ठः कहकर प्रकट की गयी है। ब्रह्म को अनेक स्थानों पर वाक् कहा गया है। जैसे सा या सा वाक् ब्रह्मैव तत् अथवा वाग् वै ब्रह्म ऋचा में काल को समस्त प्रपञ्च का ईश्वर बताया गया है। यही काल ज्ञान प्रधान मन में आनन्द और विज्ञान कला का सृजन करता है क्रियाप्रधान प्राणों में भोक्ता भोग्य अग्निसोम का सृजन करता है और भूतप्रधान नाम में अन्न अन्नाद का सृजन करता है। यही तप ज्येष्ठ और ब्रह्म महाव्याहृति के भूर्भुवः स्वः है। तप स्वः है प्राण भुवः और वाक् भूः।

गोपथब्राह्मण में ब्रह्म के तप का उल्लेख है। ब्रह्म के तप से सुवेद उत्पन्न हुआ

ब्रह्म ह वा इदमग्र
आसीत् स्वयम्भ्वेकमेव।
तदैक्षत_ हन्ताह मदेव मन्मात्र।

द्वितीय देव निर्ममे इति ।
तदभ्यश्राम्यदभ्यपत् समतपत् ।
तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य ।
सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो
यदार्द्रमाजायत तेनानन्दत् । तदब्रवीत्_ सुवेदमविदामहमिति "इति तस्मात् सुवेदोऽभवत् ।

व्यक्त काल का विस्तार

यह जो सुवेद है यही श्रुति का प्रसिद्ध आप है जिसे श्रुति ने परमेष्ठी लोक कहा है इस आप तत्व न पुन तप किया जिससे हिरण्यमयाण्ड उत्पन्न हुआ जिसके गर्भ से सवत्सर उत्पन्न हुआ अव्यक्त काल के व्यक्त होने का यही क्रम है ।

ता (आप) अकामयन्त कथ नु प्रजायेमहीति ।

ता अश्राम्यन् तपोऽतप्यन्त । तासु तपस्यप्यमानासु हिरण्मयाण्ड सम्बभूव । अजातो ह तर्हि सवत्सर आस ।

इसी सूर्य से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ । सूर्य से भूपिण्ड और भूपिण्ड स चन्द्रमा । इनमें स्वयम्भू प्राण प्रधान परमेष्ठी आप प्रधान सूर्य वाक्‌प्रधान भू अन्नाद और चन्द्रमा अन्न है ।(स प्राणोऽभवत् (स्वयम्भू) स आपोऽभवत् (परमेष्ठी) स वागभवत् (सूर्य) अन्नाद एवान्यतरोऽभवत् (भूपिण्ड) अन्नमन्यतरः(चन्द्रमा) ता वा एता पचदेवता एतेन कामप्रेण यज्ञेन अयजन्त) इनमें स्वयम्भू और परमेष्ठी मन प्रधान है सूर्य प्राणप्रधान भूपिण्ड और चन्द्रमा वाक्‌प्रधान । इस प्रकार अव्यक्त काल व्यक्त बनता है । जब मनु ने "काल कालेन पीडयन् कहा था तो उसका यही अर्थ था । काल इन्द्र के रूप में विश्वरूप हो जाता है इसलिए इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते" कहा जाता है । तप रूप में काल का नाम सर्वज्ञ ज्येष्ठ रूप में हिरण्यगर्भ और ब्रह्मरूप में विराट[redacted] है ।

नवम मन्त्र

तेनेषित तेन जात तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥

शब्दार्थ है—उस काल स सब कुछ प्रेरित है उसी से सब उत्पन्न हुआ है उसी में सब प्रतिष्ठित है । काल ही ब्रह्म होकर परमेष्ठी को धारण करता है ।

नवम मन्त्र में समस्त विश्व की उत्पत्ति काल से बतायी गयी है । मनोमय ज्ञानरूप काम है, प्राणमय क्रियारूप तप है वाङ्मय अर्थरूप श्रम है । कामना तप और श्रम ही सृष्टि का मूल है । इसीलिए "अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नह कर्हिचित् कहा गया है । इस कामना से जो क्रिया

होती है वही तप है जो कि प्राणमय है। यही प्राणमय क्रिया जब वाङमय कर्म्म का रूप लेती है तो श्रम कहलाती है। सृष्टि का यही क्रम है सोऽकामयत

स तपोऽतप्यत सोऽश्राम्यत्।

महाकाल तो अनाद्यनन्त होने से केन्द्र विहीन है। व्यक्तकाल का केन्द्र ही मन है। अत मन ही सृष्टि का मूल है। कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्। जो प्रकृति से परे है वह मन बुद्धि से परे है अत तर्क का विषय ही नही है अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् प्रकृतिभ्य पर यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

इसलिए अव्यक्त काल के लिए "सविदन्ति न य वेदा विष्णुर्वेद न वा विधि" कहा गया है। मन प्राण और वाक् की तीन सृष्टियाँ हैं इन्हें क्रमश काल सर्ग दिक् सर्ग देश सर्ग अथवा पुरुष-सर्ग प्रकृति सर्ग विकृति सर्ग अथवा ब्रह्मसृष्टि यज्ञसृष्टि मैथुनीसृष्टि भी कहा जाता है। इनमें मानसी सृष्टि अमूर्त है केवल प्राणसृष्टि और वाक् सृष्टि ही मूर्त है। यही ब्रह्म के दो रूप हैं-अमूर्त और मूर्त—द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्च अमूर्तञ्च। अमूर्त का प्रतीक है स्वयम्भू और मूर्त का प्रतीक सूर्य है। परमेष्ठी काल ने दोनों को धारण किया है। कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्

दसवा मन्त्र

काल प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।

स्वयम्भू कश्यप कालातप कालादजायत॥

शब्दार्थ है—काल ने प्रजा उत्पन्न की। काल ने सर्वप्रथम प्रजापति को व्यक्त किया। काल से स्वयम्भू और कश्यप उत्पन्न हुए।

इस दसवें मन्त्र में स्पष्टीकरण के रूप में ब्रह्म के लिए प्रजापति और परमेष्ठी के लिए प्रजा शब्द का प्रयोग करके वेद ने नवें मन्त्र की बात ही दुहरा दी है। प्रजापति आत्मा का और प्रजा शरीर का भी नाम है। मन्त्र के दूसरे चरण में काल से स्वयम्भू कश्यप और तप की उत्पत्ति मानी गयी है। स्वयम्भू प्रजापति ही है जिसकी महिमा अग्नि इन्द्र सोम और परमेष्ठी के रूप में अभिव्यक्त होती है जो क्रमश पृथ्वी सूर्य चन्द्रमा और प्रजापति के अधिदेव हैं। यह कूर्म ही आदित्य है। "स य कूर्म यह सूर्य ही यहाँ कश्यप शब्द से कहा गया है। यह कूर्म रसरूप है। "रसो वै कूर्म इस रस की चार अवस्थायें हैं दधि घृत मधु और अमृत। दधि भूपिण्ड से सम्बद्ध है घृत अन्तरिक्ष से और मधु आदित्य लोक से। चौथा अमृत परमेष्ठी लोक से जुडा है। इस प्रकार यह काल का व्यक्त रूप सूर्य प्रजापति अपने कूर्मावतार में चार रसों द्वारा चारों लोकों को समाहित किये है रसो वै कूर्म्म। दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्। घृतमन्तरिक्षस्य। मध्वमुष्य।

चौथे रस का उल्लेख "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आप" के रूप में है। इस प्रकार इस ऋचा में जिसे स्वयम्भू और प्रजापति कहा है वे अमूर्त के वाचक हैं और जिसे प्रजा और कश्यप कहा है वे मूर्त के वाचक है। प्रजा और कश्यप का सम्बन्ध "सर्वा प्रजा काश्यप्य" जैसी उक्तियों में होता

है। जिस प्रकार आत्मा के तीन पर्व हैं मन प्राण वाक्- उसी प्रकार शरीर क तीन पर्व हैं कार
सूक्ष्म और स्थूल। ये तीनों क्रमश सूर्य चन्द्र और पृथ्वी से जुडे हैं। इसलिये "यथा पिण्डे त
ब्रह्माण्डे की उक्ति प्रसिद्ध हो गयी। इस ऋचा में जिस तप का उल्लेख है, वह सूर्य का तप है
प्रत्यक्ष व्यक्तकाल को व्यवस्थित करता है।

उपसहार

इस तरह अथर्ववेद के इस कालसूक्त के प्रथम मन्त्र में कालपुरुष का उल्लेख है। द्वितीय त
तृतीय मन्त्र में सवत्सररूप काल का निरूपण है, चौथे मन्त्र में काल का आधिभौतिक रूप पाच
तथा छठे मन्त्र में आधिदैविक रूप और सातवें मन्त्र में आध्यात्मिक रूप का वर्णन है, शेष मन्त्रों
काल के समष्ट्यात्मक रूप का निरूपण है। पण्डित मधुसूदन ओझा द्वारा उद्घाटित ब्राह्मण मन
में दी गई वैदिक परिभाषा को आधार बनाकर प मोतीलाल शास्त्री ने इस कालसूक्त की जो मन्त्र
व्याख्या दिग्देशकाल स्वरूप मीमासा' नामक ग्रन्थ में की है उसी का सङ्क्षिप्त विवरण यहाँ दि
गया है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

प्रश्न

१ काल का स्थान केन्द्रीय किस प्रकार है ?
२ काल के सम्बन्ध में सामान्य मनुष्य और बुद्धिमान् मनुष्य में क्या अन्तर है ?
३ सवत्सर का क्या अर्थ है ?
४ कुम्भ क्या है ?
५ श्री और लक्ष्मी में क्या अन्तर है ?
६ काल का क्या कार्य है ?
७ ब्रह्म का तप क्या है ?

स्मरणीय उद्धरण

कालसूक्त में से अच्छे लगने वाले कोई ५ मन्त्र।

विषयानुक्रमणी

अग्नि

जठराग्नि २ पृथ्वी का देवता ३५ के तीन रूप ३५ द्विविध—विति चितनिधेय ३५ सर्वव्यापक ४९ अपरनाम—जातवेदा ४९ अग्निप्राण का सूक्ष्म रूप—वायु, ५० का नाम अन्नाद है ५८ का कार्य है—विकास १०४।

अन्न

के चार अंश ३ की अन्तिम परिणति—ओज २ ।

आत्मा

के तीन घटक—वाक् प्राण मन ६४ अमृत है १०४ ।

ईश्वर

पूर्ण है ८१ सर्वव्यापक, ८१ का वचन श्रुति ८५ की शक्ति—माया ८६ ।

ऋत

केन्द्ररहित १०३ असीम परात्पर, १०३ से ही सत्य पुरुष उत्पन्न होता है १०४ ।

कर्म

बन्धन करने वाला ५७ त्रिविध—अधिकृत धार्मिक, आत्मीय ८४ त्रिविध—कर्म विकर्म अकर्म ९७ का अर्थ—प्राणबल ९७ ।

काल

अनादि तथा अनन्त २१, अनाद्यनन्त चेतना का हेतु, २१ अनन्त सर्वेश्वर, ६९ सर्वप्रमुख ७० संवत्सरविद्या द्वारा कालजय ७० काल चेतना के सर्वाधिक निकट, १०८, समस्त पदार्थों को परिवर्तित करने वाला १०९ अत्यन्त शक्तिशाली १०९ की गति कुटिल कही जा सकती है १०९ समस्त भुवनों को व्याप्त करने वाला ११० सर्वाधिक तेजस्वी ११० सृष्टि तथा प्रलय का कर्त्ता १११ में ब्रह्म प्रतिष्ठित ११२ सबका ईश्वर, ११२ ।

गति

परिधि से केन्द्र की ओर—आकर्षण ५५ केन्द्र से परिधि की ओर—उत्क्षेपण ५५ का नाम ही ऋषि ६४, द्विविध—अन्तर्मुख बहिर्मुख ६४ ।

धर्म

अर्थ तथा काम का मूल, २६, वानप्रस्थ मे साध्य २७ ।

प्राण

अन्न की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण ८ ऊर्जा ही प्राण ८ समस्त जगत् मे व्याप्त ८ समस्त इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण ९ सर्वव्यापक तत्त्व ३४ का वायु से सम्बन्ध ४८ का काम गति प्रदान करना ५४ ऋषि और देव ७६ ।

पुरुष

त्रिविध—अव्यय अक्षर, क्षर, ५३ षोडशकलयुक्त, ५६ से ही सृष्टि ७३ सृष्टि में सर्वव्यापक, ७४ जड़ चेतन—पुरुष के ही रूप है—७५ मे गतियों का सन्तुलन ७७ से समस्त लोकों की उत्पत्ति ७८ अव्यय पुरुष के दो विवर्त—ब्रह्म और कर्म ९० ।

पूँजीवाद

के गुण दोष पृ २६ ।

ब्रह्म

विश्वरूप कार्य का कारण ६२ का वाचक ओम्, ८० ही कर्म ९० के दो रूप मूर्त और अमूर्त ११४ ।

मन

अन्न का सूक्ष्म अंश २ सर्वव्यापक ८ सृष्टि का कारण १२ चतुर्विध—श्वोवसीयस सत्त्व इन्द्रिय सर्वेन्द्रिय १३ सृष्टिगत पदार्थों का व्यवस्थापक १३ श्वोवसीयसमन सृष्टि का कारण १३ का कार्य इच्छा करना ५४ पञ्चकलाओ से युक्त ५४ की शक्ति से ही प्राण सक्रिय ५८ के वश मे प्राण ६० की शक्ति से सृष्टि ६० श्वोवसीयस मन की इच्छा—काम ६३ का धर्म—कामना ६३ अव्यय पुरुष का प्रतीक, ७८ का कार्य भोग करना ८४ काल को जानने वाला १०८ बुद्धि से परे ११४ ।

मनुष्य

सर्वश्रेष्ठ है १८ मनु से सम्बन्धित १८ देवो से भी श्रेष्ठ १८ ।

यज्ञ

अग्नि में सोमाहुति रूप है १० का अर्थ आदान प्रदान ३६ त्याग रूप है ४२ का नाम—विष्णु है ४५ से सृष्टि होना ५५ त्रिविध सृष्टि—यज्ञ से ५५ श्रेष्ठतम कर्म ५७ एक विज्ञान, ५८, से समस्त कामनायें पूर्ण ६० सङ्कल्प से ही सम्भव ६१, सर्जन का प्रतीक ७६ से ही जीवन प्रारम्भ ७६ से ऋक् साम छन्द तथा यजु उत्पन्न हुए, ७७ ।

लक्ष्मी

अर्थात्मिका ४४, की उपासना का पर्व—दीपावली ४५ का निवास धीरपुरुषो की वाणी मे ४६ कमल पर आसीन ४६ ।

लोक

पॉच है—*पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक परमेष्ठी स्वयम्भू* १० ।

वेद

कठिन नही १ अपरनाम ब्रह्म ४९ वेदों का सार—ओम् ८० ब्रह्म के तप से उत्पन्न ११२ ।

वैदिक व्यवस्था

तृतीय विकल्प के रूप मे २६ ।

शरीर

मे अन्न से वीर्य बनने की प्रक्रिया १ पूर्ण से प्रसूत होने के कारण पूर्ण ८१ का सम्बन्ध अर्थ से १०९ के तीन प्रकार—कारण सूक्ष्म और स्थूल ११५ ।

सस्कृति

के सत्य शिव सुन्दरम् ये तीन अङ्ग २२ का आधार आत्मा २३ विश्ववारा—सस्कृति २३ योग का विषय २४ का वैशिष्ट्य—अनेकता मे एकता ५० ।

सभ्यता

प्रकृति से सम्बद्ध, २१, प्रकृति का अतिक्रमण २१ सस्कृति के बिना अधूरी ३२, के मूर्त पक्ष का प्रतिनिधि—ऋग्वेद, ३१ ।

साम्यवाद

के गुण-दोष २६

सृष्टि

एक कार्य ५० के हेतु तीन तत्वा की आवश्यकता—आलम्बन सामग्री कर्त्ता ५० का मूल ब्रह्म ५३ का प्रारम्भिक बिन्दु—इच्छा ५४ त्रिगुण का विस्तार, ५६, का मूल—अग्निसोम युगल ५८ का कारण—मन प्राण वाक् ६४ के मूल में काल दिक्, देश ७० का मूल—कामना तप और श्रम ११३ ।